जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यंत गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूंथा है, कंठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पांच भाग अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएं भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी पं० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर संत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमें भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओं व कार्यक्रमों का आयोजन! व्यस्त जीवन में आप १०-१२ घंटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि में लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया।

श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सम्पर्क में हैं । गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओं को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम भाग के पश्चात् यह द्वितीय भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

—सुकन मुनि

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और उन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां चल रही हैं। गुरुदेव श्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी हैं। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रंथ हैं। इनके छह भागों में जैन तत्त्व-ज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-संपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देव कुमारजी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजत-मुनि जी एवं विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीमान् अभयराज जी बोरुंदिया (बलुंदा) की स्मृति में श्रीमान् चंपालाल जी बोरुंदिया (जालना) की प्रेरणा से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानों, मुनिवरों एवं सहयोगी उदार गृहस्थों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि अतिशीघ्र क्रमशः अन्य भागों में हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे। प्रथम भाग कुछ समय पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुँच चुका है। विद्वानों एवं जिज्ञासु पाठकों ने उसका स्वागत किया है। अब यह दूसरा भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

व्याख्याकार —

मरुधर केसरी प्रवर्तक
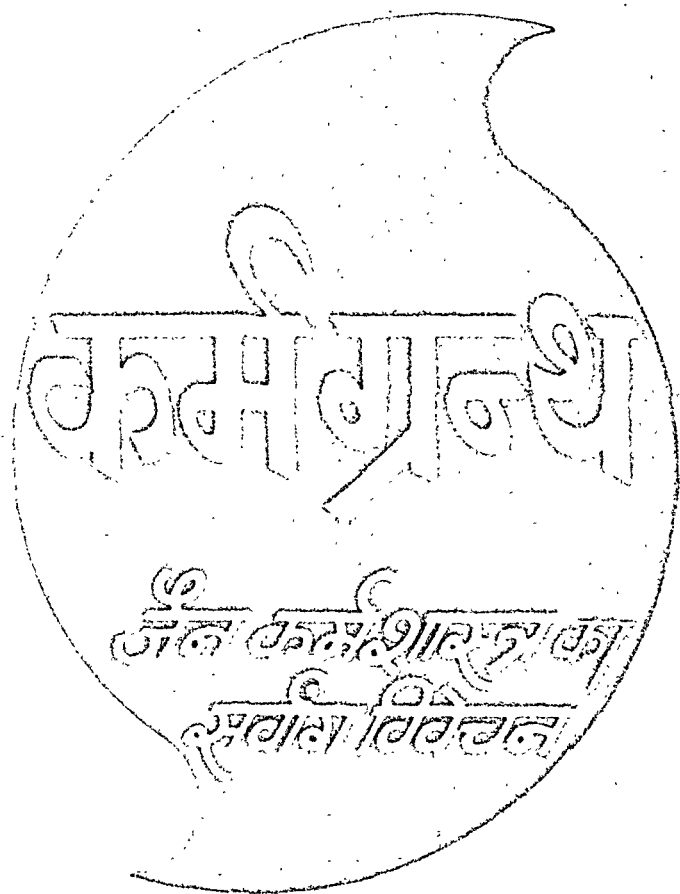
मुनिश्री मिश्रीमल जी

उदार दाता श्रीमान् अभयराज जी बोरुंदिया

श्रीमान् अभयराजजी शा० बोरुंदिया, वलुंदा (मारवाड़) निवासी एक उदार धर्मप्रेमी सज्जन थे। आप श्रीमान् धूलचन्द जी साहब के सुपुत्र तथा मंगलचन्द जी साहब के दत्तक पुत्र थे। श्रीमान् सेठ विजयराज जी शा० मूथा (वलुंदा) की दुकान पर अनेक वर्षों तक मुनीम रहे।

आपके जीवन में सरलता और साधु-संतों के प्रति अनन्य भक्ति-भावना थी। परम श्रद्धेय गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी म० के आप अनन्य भक्त थे। धार्मिक कार्यों में आपकी विशेष अभिरुचि थी।

आप अपने कार्यवश पिछले दिनों ब्यावर गये थे। काल अचानक आता है, वह पहले किसी को सूचित भी कहाँ करता है। आप ब्यावर से वापस ही नहीं लौटे, वहीं आकस्मिक ढंग से आपका स्वर्गवास हो गया। निधन के समाचार पाकर आपके निकट के भाई श्रीमान् चंपालाल जी बोरुंदिया जालना से आये। और्ध्वदैहिक कृत्य के बाद आपकी संपत्ति जो कि उनके पश्चात् श्री चंपालालजी की होती थी, किन्तु उदारचेता श्रीमान् चंपालाल जी ने उस संपत्ति को, जो लगभग ३० हजार की थी, गांव के विकास कार्यों के लिए तथा जरूरतमंद लोगों की मदद के लिए गांव के मुखिया लोगों को सुपुर्द कर दी। आपकी संपत्ति में से एक अच्छी राशि कर्मग्रन्थ द्वितीय भाग के प्रकाशनार्थ संस्था को प्रदान की है। श्री अभयराज जी सा० के भतीजे को भी जो कि साधारण स्थिति के हैं, आपने उस संपत्ति से सहायता प्रदान की है। इस प्रकार संपत्ति का सदुपयोग करने का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। धर्म-भूषण सेठ श्रीमान् चंपालालजी बोरुंदिया जालना निवासी स्वयं एक उदार-मना धर्मप्रेमी सज्जन हैं, जो सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते हैं। उन्हींकी प्रेरणा से कर्मग्रन्थ का यह द्वितीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्यमाला का ३७वां पुष्प

पुस्तक : कर्मग्रन्थ [द्वितीय भाग]

पृष्ठ : २९०

सम्प्रेरक : विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि

प्रकाशक : श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति : वीर निर्वाण सं० २५०१
[२५वां वीर-निर्वाण शताब्दी वर्ष]
वि० सं० २०३१, फाल्गुन पूर्णिमा
ई० सन् १९७५, मार्च

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिग वर्क्स आगरा-४

मूल्य : १०) दस रुपये मात्र

भाग स्व० श्री अभयराज जी बोरुंदिया की स्मृति में प्रकाशित किया जा रहा है।

हमारी संस्था स्व० सेठ श्री अभयराज जी की स्मृति में कर्मग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग प्रदान करने हेतु श्रीमान् चंपालाल जी (जालना) से हार्दिक धन्यवाद के साथ आशा करती है कि भविष्य में भी इसी प्रकार धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में संपत्ति का सदुपयोग करते रहेंगे।

—मानमल चौरडिया

मंत्री—**श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति**

जोधपुर—ब्यावर

सम्पादकीय

जैन दर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जैन दर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्व जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन कर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० सुखलाल जी के ग्रंथों का सहयोग प्राप्त हुआ

विषयानुक्रमणिका

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूं।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजतमुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्यसमिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के संपादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूं—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं और, हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद-परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैन दर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र में पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुख का कारण जहां ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वश-वर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसंपन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बंधन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है।

□

संक्रांति कालीन इन सव अवस्थाओं का वर्गीकरण करके उसके चौदह विभाग किए हैं, जो चौदह गुणस्थान कहलाते हैं।

कर्मों में मोहकर्म प्रधान है अतः इसका आवरण प्रमुखतम है अर्थात् जब तक मोह बलवान और तीव्र है तब तक अन्य सभी कर्मावरण सवल और तीव्र बने रहते हैं और मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणों की स्थिति भी निर्बल वनती जाती है। इसलिए आत्मा के विकास में मुख्य वाधक मोह की प्रवलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता है। इसी कारण आत्मा के विकास की यह क्रमगत अवस्थायें—गुणस्थान मोहशक्ति की उत्कटता-मन्दता और अभाव पर आधारित हैं।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं—दर्शनमोह एवं चारित्रमोह। इनमें से प्रथम शक्ति आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय, विवेक नहीं होने देती है। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करने देती है। व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि वस्तु का यथार्थ दर्शन-बोध होने पर उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है। आध्यात्मिक विकासगामी आत्मा के लिए भी यही दो मुख्य कार्य हैं—स्वरूप दर्शन और तदनुसार प्रवृत्ति, यानी स्वरूप में स्थित होना। इन दोनों शक्तियों में से स्वरूप-बोध न होने देने वाली शक्ति को **दर्शनमोह** और स्वरूप में स्थित न होने देने वाली शक्ति को **चारित्रमोह** कहते हैं। इनमें दर्शनमोह रूप प्रथम शक्ति प्रवल हो तव तक दूसरी चारित्रमोह रूप शक्ति कभी निर्वल नहीं हो सकती है। प्रथम शक्ति के मंद, मंदतम होने के साथ ही दूसरी शक्ति भी तदनुरूप होने लगती है। स्वरूप-वोध होने पर स्वरूप-लाभ प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है।

आत्मा की अधिकतम आवृत अवस्था प्रथम गुणस्थान है। जिसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इसमें मोह की दोनों शक्तियों का प्रवलतम प्रभाव होने के कारण आत्मा आध्यात्मिक स्थिति से सर्वथा निम्न दशा में रहती है। फिर भी उस शक्ति का अनन्तवां भाग उद्घाटित रहता है। इस भूमिका में आत्मा भौतिक वैभव का उत्कर्ष कितना भी कर ले लेकिन स्वरूप-वोध की दृष्टि से प्रायः शून्य रहती है। लेकिन विकास करना तो आत्मा का स्वभाव है, अतएव जानते-अनजानते जब मोह का आवरण कम होने लगता है तब विकास की

प्र स्ता व ना

कर्मसिद्धान्त मानने का आधार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार पुरुपार्थ हैं। इनके बारे में अनेक चिन्तकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किए हैं। जिनकी दृष्टि में यह दृश्यमान जगत ही सब कुछ है, उन्होंने तो अर्थ और काम पुरुपार्थ को मुख्य माना और किसी न किसी प्रकार से सुख प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। अतएव वे ऐसा कोई सिद्धान्त मानने के लिए बाध्य नहीं थे और न उत्सुक ही, जो अच्छे बुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति कराने वाला हो, यह पक्ष चार्वाक दर्शन परम्परा के नाम से प्रख्यात हुआ। जिसका एकमात्र लक्ष्य है—

> यावज्जीवेद् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

लेकिन इसके साथ ही यह भी चिंतन व्यापक रहा है और आज भी है, जो दृश्यमान जगत के अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ या कनिष्ठ लोक, मृत्यु के बाद जन्मान्तर की सत्ता भी स्वीकार करता है। अतएव धर्म और मोक्ष पुरुपार्थ को भी स्वीकार किया गया। परलोक और पुनर्जन्म में सुखप्राप्ति धर्म और मोक्ष पुरुपार्थ माने बिना सम्भव नहीं है। उनका मन्तव्य है कि 'यदि कर्म न हो तो जन्म-जन्मातर, इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट नहीं सकता है। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधारभूत कर्मतत्व का मानना आवश्यक है।' इस प्रकार की मान्यता वाले पुनर्जन्मवादी कहलाते हैं।

कर्मसिद्धान्त की मान्यता : दो विचारधाराएँ

इन कर्मसिद्धान्त वादियों में दो विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती हैं।

ओर अग्रसर हो जाती है और तीव्रतम राग-द्वेष को मंद करती हुई मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मवल प्रगट कर लेती है। यही विकास के प्रारम्भ होने की भूमिका है।

स्वरूपवोध का मार्ग प्रशस्त होने पर भी कभी आत्मा के परिणाम ऊर्ध्व-मुखी होते हैं, कभी अधोमुखी वनते हैं। यह क्रम भी तव तक चलता रहता है जव तक आत्म-परिणामों में स्थायित्व नहीं आ जाता। यह स्थायित्व दो प्रकार से प्राप्त होता है—या तो स्वरूपवोध के आवरण का पूर्णतया क्षय हो या वह आवरण शमित (शांत) हो जाये। शमित होने की स्थिति में तो निमित्त मिलने पर आवरण अपना प्रभाव दिखाता है, लेकिन क्षय होने पर स्वरूपवोध का सतत प्रवाह वना रहता है।

दर्शनशक्ति के विकास के वाद चारित्रशक्ति के विकास का क्रम आता है। मोह की प्रधान शक्ति—दर्शनमोह को शिथिल करके स्वरूपदर्शन कर लेने के वाद भी जव तक दूसरी शक्ति चारित्रमोह को शिथिल न किया जाये तव तक आत्मा की स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती है। इसलिए वह मोह की दूसरी शक्ति को मंद करने के लिए प्रयास करती है। जव वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाती है, तव उसकी उत्क्रान्ति और भी ऊर्ध्वमुखी होने लगती है। जैसे-जैसे यह स्थिति वृद्धिगत होती है, वैसे-वैसे स्वरूपस्थिरता भी वढ़ती जाती है।

इस अवस्था में भी दर्शनमोह को शमित करने वाली आत्मा स्वरूपवोध से पतित होकर पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आ सकती है और तव पूर्व में जो कुछ भी पारिणामिक शुद्धि आदि की थी, वह सव व्यर्थ-सी हो जाती है। लेकिन जिसने दर्शनमोह का सर्वथा नाश कर दिया है, वह आत्मा तो पूर्णता को प्राप्त करके ही विराम लेती है।

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक होती है।[1] विकास के इस क्रम का

---

१ यह कथन सामान्य दृष्टि से है। वैसे दूसरा गुणस्थान तो विकास की भूमिका नहीं किन्तु ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है।

एक विचारधारा यह है कि कर्म के फलस्वरूप जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, किंतु श्रेष्ठ लोक और श्रेष्ठ जन्म के लिए कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। श्रेष्ठ लोक के रूप में उनकी कल्पना स्वर्ग तक ही सीमित है। वे धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को मानने वाले हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष का पुरुषार्थ रूप में कोई स्थान नहीं है। इसलिए इनको त्रिपुरुषार्थवादी कहा जाता है।

इन त्रिपुरुषार्थवादी विचारकों का संक्षेप में मन्तव्य इस प्रकार है कि धर्म—शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि है। यह धर्माधर्म ही पुण्य-पाप या अदृष्ट कहलाते हैं और इन्हींके द्वारा जन्म-जन्मांतर, स्वर्ग-नरक की प्राप्ति रूप चक्र चलता रहता है। जिसका उच्छेद शक्य नहीं है, किन्तु इतना ही संभव है कि यदि उत्तम लोक और उत्तम सुख पाना है तो धर्म पुरुषार्थ करो। अधर्म–पाप हेय है और धर्म–पुण्य उपादेय है। धर्म और अधर्म के रूप में इनकी मान्यता है कि समाजमान्य शिष्ट आचरण धर्म और निन्द्य आचरण अधर्म है। अतएव सामाजिक सुव्यवस्था के लिए शिष्ट आचरण करना चाहिए। इस विचारधारा की प्रवर्तक धर्म के रूप में प्रसिद्धि हुई। जहाँ भी प्रवर्तक धर्म का उल्लेख किया जाता है, वह इन त्रिपुरुषार्थवादी चिन्तकों के मंतव्य का सूचक है। ब्राह्मण-मार्ग, मीमांसक या कर्मकाण्डी के नाम से यह त्रिपुरुषार्थवादी प्रसिद्ध हैं।

इसके विपरीत कर्मतत्त्ववादी दूसरे समर्थकों का मंतव्य उक्त प्रवर्तक धर्मवादियों, त्रिपुरुषार्थवादियों से नितांत भिन्न है। वे मानते हैं कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट-सम्मत एवं विहित कर्मों (कार्यों) के आचरण से स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु स्वर्ग की प्राप्ति करने में ही संतोष मानना जीव का लक्ष्य नहीं है और न इसमें आत्मा के पुरुषार्थ की पूर्णता है। इसमें आत्मा के स्वतंत्र, शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कहाँ है? अतएव आत्म-स्वरूप की उपलब्धि एवं पुरुषार्थ की पूर्णता के लिए अधर्म–पाप की तरह धर्म–पुण्य भी सर्वथा हेय हैं। इनके अनुसार चौथा मोक्ष पुरुषार्थ स्वतंत्र है और मोक्ष ही एकमात्र आत्मा का लक्ष्य है। मोक्ष के लिए पुण्यरूप या पापरूप दोनों प्रकार के कर्म हेय हैं। यह भी नहीं है कि कर्म का उच्छेद नहीं किया

निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र मोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में आत्मा की दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास इसलिए नहीं हो पाता कि उनमें उनके प्रतिवंधक कारणों की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों से वे प्रतिवंधक संस्कार मंद होते जाते हैं, जिससे उन-उन गुणस्थानों में शक्तियों के विकास का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इन प्रतिबंधक संस्कारों को कषाय कहते हैं।

इन कषायों के मुख्य रूप में चार विभाग किए गए हैं। ये विभाग काषायिक संस्कारों की फल देने की तरतम शक्ति पर आधारित हैं। इनमें से प्रथम विभाग—दर्शन मोहनीय और अनन्तानुवन्धी कषाय का है। यह विभाग दर्शनशक्ति का प्रतिवंधक होता है। शेष तीन विभाग जिन्हें क्रमशः अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं, चारित्रशक्ति के प्रतिबंधक हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता रहने पर दर्शनशक्ति का आविर्भाव नहीं होता है, लेकिन जैसे-जैसे मन्दता या अभाव की स्थिति वनती है, दर्शनशक्ति व्यक्त होती है।

दर्शनशक्ति के व्यक्त होने पर यानी—दर्शनमोह और अनन्तानुवन्धी कपाय का वेग शांत या क्षय होने पर चतुर्थ गुणस्थान के अन्त में अप्रत्याख्यानावरण कपाय का संस्कार नहीं रहता है। जिससे पांचवें गुणस्थान में चारित्रशक्ति का प्राथमिक विकास होता है। इसके अनन्तर पांचवें गुणस्थान के अंत में प्रत्याख्यानावरण कपाय का वेग न रहने से चारित्रशक्ति का विकास और बढता है जिससे इन्द्रियविपयों से विरक्त होने पर जीव साधु (अनगार) वन जाता है। यह विकास की छठवीं भूमिका है। इस भूमिका में चारित्र की विपक्षी संज्वलन कपाय के विद्यमान रहने से चारित्रपालन में विक्षेप तो पड़ता रहता है, किन्तु चारित्रशक्ति का विकास दवता नहीं है। शुद्धि और स्थिरता में अंतराय आते रहते हैं और आत्मा उन विघातक कारणों से संघर्ष भी करती रहती है। इस संघर्ष में सफलता प्राप्त कर जव संज्वलन संस्कारों को दवाती हुई आत्मा विकास की ओर गतिशील रहती है तव सातवें आदि गुणस्थानों को लांघकर वारहवें गुणस्थान में पहुंच जाती है। वारहवें गुणस्थान में तो दर्शन-

जा सकता है। प्रयत्न के द्वारा कर्म का उच्छेद शक्य है। यह विचारधारा निवर्तक धर्म के रूप में प्रख्यात हुई। इसकी दृष्टि सामाजिक व्यवस्था तक ही सीमित न होकर मुख्य रूप से व्यक्ति-विकासवादी (आत्म-विकासवादी) है। व्यक्ति अपना विकास करे। परम लक्ष्य की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर कर सकता है।

निवर्तकधर्म का कर्म विषयक मंतव्य

निवर्तकधर्म के मन्तव्यानुसार आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य है और वह स्वय आत्मा के प्रयत्नों द्वारा ही सम्भव होती है। कर्म की उत्पत्ति के मूल कारण का संकेत करते हुए कहा गया है कि धर्म—पुण्य और अधर्म—पाप के मूल कारण प्रचलित सामाजिक प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधि-निषेध नहीं हैं, अपितु अज्ञान और राग-द्वेष हैं। कैसा भी शिष्ट-सम्मत सामाजिक आचरण क्यों न हो, अगर वह अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होगी। पुण्य-पाप का यह भेद तो स्थूलदृष्टि वालों के लिए है। वस्तुतः पुण्य एवं पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक होने से अधर्म एवं हेय हैं। इसलिए आत्मस्वातंत्र्य के लिए अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक समाजविहित शिष्ट कर्म भी अधर्म मूलक पाप कर्मों की तरह त्याज्य हैं और उनका उच्छेद होना आवश्यक है।

जब निवर्तकधर्मवादियों ने कर्म का उच्छेद और मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ मान लिया तब कर्म के उच्छेदक और मोक्ष के जनक कारणों को निश्चित करना आवश्यक हो गया। अतएव कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का मुख्य उपाय अज्ञान-विरोधी सम्यग्ज्ञान और राग-द्वेष विरोधी समभाव (सम्यक् चारित्र), संयम को साधन माना तथा स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि उपायों को सम्यग्ज्ञान और संयम के सहयोगी रूप में स्वीकार किया।

निवर्तकधर्मवादियों ने जब मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों के बारे में गहरा विचार किया तब उसके साथ ही कर्मतत्त्व का चिन्तन भी करना पड़ा। उन्होंने कर्म, उसके भेद तथा भेदों की परिभाषाएं भी निश्चित कीं। कार्य-कारण की दृष्टि से कर्मों का वर्गीकरण किया। उनको फल देने की

शक्ति और चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा क्षय हो जाते हैं, जिससे दोनों शक्तियां पूर्ण विकसित हो जाती हैं। उस स्थिति में शरीर, आयु आदि का सम्बन्ध रहने से जीवन्मुक्त अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाती है और बाद में शरीर आदि का भी वियोग हो जाने पर शुद्ध ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियों से सम्पन्न आत्मावस्था प्राप्त हो जाती है। जीवन्-मुक्त अवस्था तेरहवां और शरीर आदि से रहित पूर्ण निष्कर्म अवस्था चौदहवां गुणस्थान कहलाता है।

चौदहवां गुणस्थान प्राप्त आत्मा अपने यथार्थ रूप में विकसित होकर सदा के लिए सुस्थिर दशा प्राप्त कर लेती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। आत्मा की समग्र शक्तियों के अत्यधिक रूप से अव्यक्त रहना प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है और क्रमिक विकास करते हुए परिपूर्ण रूप को व्यक्त करके आत्मस्थ हो जाना चौदहवां गुणस्थान अयोगी केवली है। यह चौदहवां गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान में देखे गये ईश्वरत्व, परमात्मत्वं का तादात्म्य है। पहले और चौदहवें गुणस्थानों के बीच जो दो से लेकर तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं, वे कर्म और आत्मा के द्वन्द्व-युद्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के नाम हैं। आत्मा को क्रमिक विकास के मार्ग में किन-किन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, यही गुणस्थानों की क्रमबद्ध शृंखला की वे एक-एक कड़ियां हैं।

यहां गुणस्थानों की अति संक्षिप्त रूपरेखा बतलाई है। गुणस्थानों के नाम, उनका क्रमबद्ध व्यवस्थित विशेष विवरण इसी ग्रन्थ की दूसरी गाथा में दिया गया है।

अन्य ग्रन्थों में गुणस्थान संबंधी चर्चा

जैनदर्शन के समान ही अन्य दर्शनों में भी आत्मविकास के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उनमें भी कर्मबद्ध आत्मा को क्रमिक विकास करते हुए पूर्ण मुक्त दशा को प्राप्त करना माना है। योगवाशिष्ठ और पातंजल योगसूत्र आदि ग्रन्थों में आत्मविकास की भूमिकाओं का विस्तार से कथन किया गया है। योगवाशिष्ठ में सात भूमिकायें अज्ञान की और सात भूमिकायें ज्ञान की मानी हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

अज्ञान की भूमिकायें—१. बीजजाग्रत, २. जाग्रत, ३. महाजाग्रत, ४. जाग्रतस्वप्न, ५. स्वप्न, ६. स्वप्नजाग्रत, ७. सुषुप्तक।

एक विचारधारा यह है कि कर्म के फलस्वरूप जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, किंतु श्रेष्ठ लोक और श्रेष्ठ जन्म के लिए कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। श्रेष्ठ लोक के रूप में उनकी कल्पना स्वर्ग तक ही सीमित है। वे धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को मानने वाले हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष का पुरुषार्थ रूप में कोई स्थान नहीं है। इसलिए इनको त्रिपुरुषार्थवादी कहा जाता है।

इन त्रिपुरुषार्थवादी विचारकों का संक्षेप में मन्तव्य इस प्रकार है कि धर्म—शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि है। यह धर्माधर्म ही पुण्य-पाप या अदृष्ट कहलाते हैं और इन्हींके द्वारा जन्म-जन्मांतर, स्वर्ग-नरक की प्राप्ति रूप चक्र चलता रहता है। जिसका उच्छेद शक्य नहीं है, किन्तु इतना ही संभव है कि यदि उत्तम लोक और उत्तम सुख पाना है तो धर्म पुरुषार्थ करो। अधर्म–पाप हेय है और धर्म–पुण्य उपादेय है। धर्म और अधर्म के रूप में इनकी मान्यता है कि समाजमान्य शिष्ट आचरण धर्म और निन्द्य आचरण अधर्म है। अतएव सामाजिक सुव्यवस्था के लिए शिष्ट आचरण करना चाहिए। इस विचारधारा की प्रवर्तक धर्म के रूप में प्रसिद्धि हुई। जहाँ भी प्रवर्तक धर्म का उल्लेख किया जाता है, वह इन त्रिपुरुषार्थवादी चिन्तकों के मंतव्य का सूचक है। ब्राह्मण-मार्ग, मीमांसक या कर्मकाण्डी के नाम से यह त्रिपुरुषार्थवादी प्रसिद्ध हैं।

इसके विपरीत कर्मतत्ववादी दूसरे समर्थकों का मंतव्य उक्त प्रवर्तक धर्मवादियों, त्रिपुरुषार्थवादियों से नितांत भिन्न है। वे मानते हैं कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट-सम्मत एवं विहित कर्मों (कार्यों) के आचरण से स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु स्वर्ग की प्राप्ति करने में ही संतोष मानना जीव का लक्ष्य नहीं है और न इसमें आत्मा के पुरुषार्थ की पूर्णता है। इसमें आत्मा के स्वतंत्र, शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कहाँ है? अतएव आत्म-स्वरूप की उपलब्धि एवं पुरुषार्थ की पूर्णता के लिए अधर्म–पाप की तरह धर्म–पुण्य भी सर्वथा हेय है। इनके अनुसार चौथा मोक्ष पुरुषार्थ स्वतंत्र है और मोक्ष ही एकमात्र आत्मा का लक्ष्य है। मोक्ष के लिए पुण्यरूप या पापरूप दोनों प्रकार के कर्म हेय हैं। यह भी नहीं है कि कर्म का उच्छेद नहीं किया

ज्ञान की भूमिकायें—१. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थाभाविनी, ७. तूर्यगा।

उक्त १४ भूमिकाओं का सारांश निम्नप्रकार है—

१. **बीजजाग्रत**—इस भूमिका में अहं एवं ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती है। किन्तु बीज रूप में जागृति की योग्यता होती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र निकाय में मानी गई है।

२. **जाग्रत**—इसमें अहं एवं ममत्व बुद्धि अल्पांश में जाग्रत होती है।

३. **महाजाग्रत**—इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि विशेष रूप से पुष्ट होती है। यह भूमिका मानव, देव समूह में मानी जा सकती है।

४. **जाग्रतस्वप्न**—इस भूमिका में जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है। जैसे एक चंद्र के बदले दो दिखना, सीप में चांदी का भ्रम होना। इस भूमिका में भ्रम होने के कारण यह जाग्रतस्वप्न कहलाती है।

५. **स्वप्न**—निद्रावस्था में आए हुए स्वप्न का जागने के पश्चात जो भान होता है, उसे स्वप्न भूमिका कहते हैं।

६. **स्वप्नजाग्रत**—वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमें समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी चलता रहता है।

७. **सुषुप्तक**–प्रगाढ़ निद्रा जैसी अवस्था। इसमें जड़ जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना रूप में रहे हुए होते हैं।

यह सात अज्ञानमय भूमिका के भेदों का सारांश है। इनमें तीसरी से सातवीं तक की भूमिकायें मानव निकाय में होती हैं। ज्ञानमय भूमिकाओं का रूप निम्न है—

१. **शुभेच्छा**—आत्मावलोकन की वैराग्य युक्त इच्छा।

२. **विचारणा**—शास्त्र और सत्संगपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार पें प्रवृत्ति।

३. **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियविषयों में आसक्ति कम होना।

४. **सत्त्वापत्ति**—सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

जा सकता है। प्रयत्न के द्वारा कर्म का उच्छेद शक्य है। यह विचारधारा निवर्तक धर्म के रूप में प्रख्यात हुई। इसकी दृष्टि सामाजिक व्यवस्था तक ही सीमित न होकर मुख्य रूप से व्यक्ति-विकासवादी (आत्म-विकासवादी) है। व्यक्ति अपना विकास करे। परम लक्ष्य की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर कर सकता है।

निवर्तकधर्म का कर्म विषयक मंतव्य

निवर्तकधर्म के मन्तव्यानुसार आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य है और वह स्वयं आत्मा के प्रयत्नों द्वारा ही सम्भव होती है। कर्म की उत्पत्ति के मूल कारण का संकेत करते हुए कहा गया है कि धर्म--पुण्य और अधर्म--पाप के मूल कारण प्रचलित सामाजिक प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधि-निषेध नहीं हैं, अपितु अज्ञान और राग-द्वेष हैं। कैसा भी शिष्ट-सम्मत सामाजिक आचरण क्यों न हो, अगर वह अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होगी। पुण्य-पाप का यह भेद तो स्थूलदृष्टि वालों के लिए है। वस्तुतः पुण्य एवं पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक होने से अधर्म एवं हेय हैं। इसलिए आत्मस्वातंत्र्य के लिए अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक समाजविहित शिष्ट कर्म भी अधर्म मूलक पाप कर्मों की तरह त्याज्य हैं और उनका उच्छेद होना आवश्यक है।

जब निवर्तकधर्मवादियों ने कर्म का उच्छेद और मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ मान लिया तब कर्म के उच्छेदक और मोक्ष के जनक कारणों को निश्चित करना आवश्यक हो गया। अतएव कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का मुख्य उपाय अज्ञान-विरोधी सम्यग्ज्ञान और राग-द्वेष विरोधी समभाव (सम्यक् चारित्र), संयम को साधन माना तथा स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि उपायों को सम्यग्ज्ञान और संयम के सहयोगी रूप में स्वीकार किया।

निवर्तकधर्मवादियों ने जब मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों के बारे में गहरा विचार किया तब उसके साथ ही कर्मतत्त्व का चिन्तन भी करना पड़ा। उन्होंने कर्म, उसके भेद तथा भेदों की परिभाषाएं भी निश्चित कीं। कार्य-कारण की दृष्टि से कर्मों का वर्गीकरण किया। उनकी फल देने की

५. **असंसक्ति**—असंगरूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

(६) **पदार्थभाविनी**—इसमें वाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छायें नष्ट हो जाती हैं।

(७) **तूर्यगा**—भेदभाव का बिल्कुल भान भूल जाने से एक मात्र स्वभाव निष्ठा में स्थिर रहना। यह जीवन्मुक्त जैसी अवस्था होती है विदेहमुक्ति का विषय उसके पश्चात् की तूर्यातीत अवस्था है।

अज्ञान की सात भूमिकाओं को अज्ञान की प्रवलता से अविकास-क्रम में और ज्ञान की सात भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञान की वृद्धि होने से उन्हें विकास-क्रम में गिना जा सकता है।

वौद्धदर्शन में भी आत्मा के विकास-क्रम के वारे में चिन्तन किया गया है और आत्मा की संसार और मोक्ष आदि अवस्थायें मानी हैं। त्रिपिटक में आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध होता है। जिसमें विकास की निम्न-लिखित ६ स्थितियां वताई हैं—

(१) अंध पुथुज्जन, (२) कल्याण पुथुज्जन, (३) सोतापन्न, (४) सकदा-गामी, (५) औपपातिक, (६) अरहा।

पुथुज्जन का अर्थ है सामान्य मानव। उसके अंध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन यह दो भेद किये गये हैं। जैनागमों में कर्म सम्बन्धी वर्णन की तरह वौद्ध साहित्य में भी दस संयोजनाओं (वंधन) का वर्णन है।

अंध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन में दसों प्रकार की संयोजनायें होती हैं। लेकिन उन दोनों में यह अन्तर है कि पहले को आर्य दर्शन और सत्संग प्राप्त नहीं होता, जवकि दूसरे को वह प्राप्त होता है। दोनों निर्वाण मार्ग से पराङ्मुख हैं। निर्वाण मार्ग को प्राप्त करने वालों के चार प्रकार हैं। जिन्होंने तीन संयोजनाओं का क्षय किया वे सोतापन्न, जिन्होंने तीन संयोजनाओं का क्षय और दो को शिथिल किया वे सकदागामी और जिन्होंने पांच का क्षय किया वे औपपातिक हैं। जिन्होंने दसों संयोजनाओं का क्षय कर दिया [illegible] कहलाते हैं।

इसका परिणाम यह हुआ कि कर्म साहित्य में उनकी देन नगण्य-सी रह गई और जो कुछ है भी, वह चिन्तन को विकसित करने में सहायक नहीं बनती है। लेकिन जैन-चिन्तकों ने अन्य-अन्य विषयों के चिन्तन की तरह कर्मतत्त्व के बारे में भी गहन विचार और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करके भारतीयदर्शन को महान देन दी है, जो अपने आप में अनूठी है, अद्वितीय है ।

जैनदर्शन की कर्मतत्त्व सम्बन्धी रूपरेखा

जैनदर्शन में कर्म का लक्षण, उसके भेद, प्रभेद आदि का दिग्दर्शन कराते हुए प्रत्येक कर्म की बंध, सत्ता और उदय यह तीन अवस्थायें मानी हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। उनमें बंध को 'क्रियमाण', सत्ता को 'संचित' और उदय को 'प्रारब्ध' कहा है। परन्तु जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके प्रभेदों के द्वारा संसारी आत्मा का अनुभवगम्य विभिन्न अवस्थाओं का जैसा स्पष्ट व सरल विवेचन किया है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है। पातंजल दर्शन में भी कर्म के जाति, आयु और भोग—यह तीन तरह के विपाक बतलाए हैं, लेकिन जैनदर्शन के कर्म सम्बन्धी विचारों के सामने वह वर्णन अस्पष्ट और अकिंचित्कर प्रतीत होता है।

जैनदर्शन में आत्मा और कर्म का लक्षण स्पष्ट करते हुए आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है ? उसके कारण क्या हैं ? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न हो रही है ? आत्मा के साथ कर्म सम्बन्ध किस समय तक रहता है, उसकी कम से कम और अधिक से अधिक कितनी काल-मर्यादा है ? कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहता है ? कर्म के फल देने का समय बदला भी जा सकता है या नहीं और यदि बदला भी जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक हैं ? कर्मशक्तियों की तीव्रता को मन्दता में और मन्दता को तीव्रता में परिणमित करने वाले कौन से आत्म-परिणाम हैं ? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन है और कर्म के आवरणों से आवृत होने पर भी आत्मा अपने स्वभाव से च्युत क्यों नहीं होती ? इत्यादि कर्मों के बंध, सत्ता और उदय की अपेक्षा उत्पन्न होने वाले संख्यातीत प्रश्नों का सयुक्तिक, विशद, विस्तृत स्पष्टीकरण जैन कर्मसाहित्य में किया गया है।

इनमें प्रथम स्थिति आध्यात्मिक अविकास-काल की है। दूसरी में विकास का अल्पांश में स्फुरण होता है, किन्तु विकास की अपेक्षा अविकास का प्रभाव विशेष रहता है। तीसरी से छठी स्थिति आध्यात्मिक विकास के उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की है और वह विकास छठवीं भूमिका अरहा में पूर्ण होता है और इसके पश्चात् निर्वाण की स्थिति बनती है।

आजीवक मत में भी आत्मविकास की क्रमिक स्थितियों का संकेत किया गया होगा। आजीवक मत का अधिनेता मंखलिपुत्र गोशालक भगवान महावीर की देखा-देखी करने वाला एक प्रतिद्वन्द्वी सरीखा माना जाता है। इसलिए उसने अवश्य ही आत्मविकास की क्रमिक स्थितियों को बतलाने के लिए गुणस्थानों जैसी परिकल्पना की होगी। लेकिन उसका कोई साहित्य उपलब्ध न होने से निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। फिर भी बौद्ध साहित्य में आत्मविकास के लिए आजीवक मत के आठ सोपान बतलाये हैं—

(१) मंद, (२) खिड्डा, (३) पद वीमंसा, (४) उज्जुगत, (५) सेख, (६) समण, (७) जिन, (८) पन्न।

इन आठों का मज्झिमनिकाय की सुमंगलविलासनी टीका में बुद्धघोष ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

(१) **मंद**—जन्म दिन से लेकर सात दिन तक गर्भ-निष्क्रमण-जन्य दुःख के कारण प्राणी मंदस्थिति में रहता है।

(२) **खिड्डा**—दुर्गति से आकर जन्म लेने वाला बालक पुनः-पुनः रुदन करता है और सुगति से आने वाला सुगति का स्मरण कर हास्य करता है। यह खिड्डा (क्रीड़ा) भूमिका है।

(३) **पद वीमंसा**—माता पिता के हाथ या अन्य किसी के सहारे से बालक का धरती पर पैर रखना पद वीमंसा है।

(४) **उज्जुगत**—पैरों से स्वतन्त्र रूप से चलने की सामर्थ्य प्राप्त करना।

(५) **सेख**—शिल्प कला आदि के अध्ययन के समय की शिष्य भूमिका।

(६) **समण**—घर से निकल कर संन्यास ग्रहण करना समण भूमिका है।

(७) **जिन**—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

भी निदर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। इन गुणस्थानों का क्रम संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। इससे यह वताना और समझना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आंतरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी कर्म प्रकृतियों के वंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का अधिकारी है।

गुणस्थानों का संक्षेप में विवेचन

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों को अर्थात् आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैनदर्शन में 'गुणस्थान' यह एक पारिभाषिक शब्द है और उसका अर्थ आत्मशक्तियों के आविर्भाव—उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्था से है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्ण आनन्दमय है, लेकिन जव तक उस पर तीव्र कर्मावरण छाया हुआ हो तव तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता है। जैसे-जैसे आवरण शिथिल या नष्ट होते हैं वैसे-वैसे उसका असली स्वरूप प्रगट होता जाता है। जव आवरणों की तीव्रतम स्थिति होती है तव आत्मा अविकसित दशा के निम्नतम स्तर पर होती है। यह आत्मा की निम्नतम स्तर की स्थिति मानी जा सकती है और जव आवरण विल्कुल नष्ट हो जाते हैं तव आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में स्थिर हो जाती है। जो उसका पूर्ण स्वभाव है। उच्चतम सर्वोच्च अप्रतिपाती स्थिति है।

आत्मा पर से जैसे-जैसे कर्मों के आवरण की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा अपनी प्राथमिक भूमिका को छोड़कर शनैः-शनैः शुद्ध स्वरूप का लाभ करती हुई चरम उच्च भूमिका की ओर गमन करती है। इस गमनकालीन स्थिति में आत्मा अनेक प्रकार की उच्च-नीच परिणामजन्य स्थितियों का अनुभव करती है, जिससे उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए भी पुनः निम्न भूमिका पर भी आ पहुंचती है और पुनः उस निम्न भूमिका से अपने परिणामविशेषों से उत्थान की ओर अग्रसर होती है। यह क्रम चलता रहता है लेकिन अन्त में आत्मशक्ति की प्रवलता से उन स्थितियों को पार करते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेती है। प्रारम्भिक और अन्तिम तथा मध्य की

(८) पन्न—प्राज्ञ वना हुआ भिक्षु जव कुछ भी वातचीत नहीं करता ऐसे निर्लोभ श्रमण की भूमिका पन्न है।

इन आठ भूमिकाओं में प्रथम तीन भूमिकायें अविकास का और अन्त की पांच भूमिकायें विकास का सूचन करने वाली हैं। उनके वाद मोक्ष होना चाहिए।

उक्त पातंजल, वौद्ध और आजीवक मत की आत्मविकास के लिए मानी जाने वाली भूमिकाओं में जैनदर्शन के गुणस्थानों जैसी क्रमवद्धता और स्पष्ट स्थिति नहीं है। फिर भी उनका प्रासंगिक संकेत इसलिए किया है कि जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक मानने वाले दर्शनों ने आत्मा की कर्मबद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिए चिन्तन किया है।

ग्रन्थ का विषय-विभाग और रचना का आधार

इस द्वितीय कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों के क्रम में कर्म प्रकृतियों के वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन किया गया है। अतः विषय-विभाग की दृष्टि में इसके यही मुख्य चार विभाग हैं। वंध अधिकार में प्रत्येक गुणस्थान-वर्ती जीवों की वंध योग्यता को, उदय,उदीरणा और सत्ता अधिकार में क्रमशः उदय, उदीरणा और सत्ता सम्वन्धी योग्यता को दिखलाया है।

इस ग्रन्थ की रचना प्राचीन कर्मस्तव नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के आधार पर हुई है और उसका व इसका विषय एक ही है। दोनों में भेद इतना ही है कि प्राचीन कर्मग्रन्थ में ५५ गाथायें हैं और इसमें ३४। प्राचीन में जो वात कुछ विस्तार से कही गई है, इसमें उसे परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है।

प्राचीन के आधार से वनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में उल्लिखित नहीं किया है, फिर भी इसका कर्मस्तव नाम होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ की अन्तिम गाथा में **नेयं कम्मत्थयं सोउं** इस अंश से इस नाम का कथन कर दिया है।

व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम कर्मस्तव है, किन्तु उसकी प्रारंभिक गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम 'वन्धोदयसत्त्व-युक्त स्तव'

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की जिन विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, उनका सामान्यतया बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाचन और अबाध इन ग्यारह भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं। इस वर्गीकरण में कर्म की शक्ति के साथ आत्मा की क्षमता का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण किया गया है। जिससे वह जन्म-मरण के चक्र का भेदन कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर उसमें स्थित हो जाती है।

जैनदर्शन की उक्त कर्म विषयक संक्षिप्त रूपरेखा के आधार पर अब 'कर्मस्तव' द्वितीय कर्मग्रन्थ में वर्णित विषय के बारे में विचार करते हैं। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से आत्मशक्ति के विकास का क्रम और उस विकास पथ पर बढ़ती हुई आत्मा की विशुद्धता के कारण क्रम-क्रम से कर्मों की बंध, सत्ता और उदयावस्था की हीनता का दिग्दर्शन कराया है।

द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में ग्रन्थकार ने कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों एवं उनकी बन्ध, उदय-उदीरणा, सत्ता योग्य संख्या का संकेत किया है और इस द्वितीय कर्मग्रन्थ में उन प्रकृतियों की बन्ध, उदय-उदीरणा, सत्ता के लिए जीव की योग्यता का वर्णन किया गया है।

विषय वर्णन की शैली

संसारी जीव अनन्त हैं। अतः किसी एक व्यक्ति के आधार से उन सब की बंधादि सम्बन्धी योग्यता का दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता है और न यह संभव भी है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की कर्मबंधादि सम्बन्धी योग्यता भी सदा एक-समान नहीं रहती है, क्योंकि प्रतिक्षण परिणामों और विचारों के बदलते रहने के कारण बंधादि सम्बन्धी योग्यता भी प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है। अतएव अध्यात्मज्ञानियों ने संसारी जीवों के उनकी आभ्यन्तर शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति, अशुद्धि-जन्य अपक्रांति के आधार पर अनेक वर्ग किए हैं। इस वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं।

गुणस्थान का यह क्रम ऐसा है कि जिससे उन विभागों में सभी संसारी जीवों का समावेश एवं बन्धादि सम्बन्धी उनकी योग्यता को बताना सहज हो जाता है और एक जीव की योग्यता जो प्रतिसमय बदला करती है, उसका

है। इसी नाम से गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में भी एक प्रकरण है। दोनों के नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों में 'स्तव' शब्द समान होने पर भी गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में स्तव शब्द का अर्थ भिन्न है। 'कर्मस्तव' में स्तव शब्द का मतलब स्तुति से है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, किन्तु गोम्मट्टसार में स्तव का अर्थ स्तुति न लेकर एक सांकेतिक अर्थ किया है—किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला शास्त्र।

इस प्रकार विषय और नामकरण में समानता होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय भेद तथा ग्रन्थरचना सम्बन्धी देशकाल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

प्राक्कथन के रूप में कुछ बातों का संकेत किया गया है। पाठक गण इन विचारों के आधार पर ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए कर्म साहित्य के अन्य-अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे तो उन्हें एक विशेष आनन्द की अनुभूति होगी।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'
—देवकुमार जैन

भी निदर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। इन गुणस्थानों का क्रम संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। इससे यह बताना और समझना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आंतरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का अधिकारी है।

गुणस्थानों का संक्षेप में विवेचन

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों को अर्थात् आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैनदर्शन में 'गुणस्थान' यह एक पारिभाषिक शब्द है और उसका अर्थ आत्मशक्तियों के आविर्भाव—उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्था से है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्ण आनन्दमय है, लेकिन जब तक उस पर तीव्र कर्मावरण छाया हुआ हो तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता है। जैसे-जैसे आवरण शिथिल या नष्ट होते हैं वैसे-वैसे उसका असली स्वरूप प्रगट होता जाता है। जब आवरणों की तीव्रतम स्थिति होती है तब आत्मा अविकसित दशा के निम्नतम स्तर पर होती है। यह आत्मा की निम्नतम स्तर की स्थिति मानी जा सकती है और जब आवरण बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में स्थिर हो जाती है। जो उसका पूर्ण स्वभाव है। उच्चतम सर्वोच्च अप्रतिपाती स्थिति है।

आत्मा पर से जैसे-जैसे कर्मों के आवरण की तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा अपनी प्राथमिक भूमिका को छोड़कर शनैः-शनैः शुद्ध स्वरूप का लाभ करती हुई चरम उच्च भूमिका की ओर गमन करती है। इस गमनकालीन स्थिति में आत्मा अनेक प्रकार की उच्च-नीच परिणामजन्य स्थितियों का अनुभव करती है, जिससे उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए भी पुनः निम्न भूमिका पर भी आ पहुंचती है और पुनः उस निम्न भूमिका से अपने परिणामविशेषों से उत्थान की ओर अग्रसर होती है। यह क्रम चलता रहता है लेकिन अन्त में आत्मशक्ति की प्रबलता से उन स्थितियों को पार करते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेती है। प्रारम्भिक और अन्तिम तथा मध्य को

द्वितीय भाग

कर्मग्रन्थ

[कर्मस्तव]

क्षय करने के लिए श्रेणीक्रम पर आरोहण करते हैं और परिणाम शुद्ध से शुद्धतर होते जाते हैं। श्रेणी का यह क्रम पहले की अपेक्षा दूसरे, दूसरे की अपेक्षा तीसरे समय में अपूर्व ही होता है और इस श्रेणीक्रम में एक की दूसरे से, दूसरे से तीसरे आदि की तुलना या समानता नहीं होती है। अतः ऐसी श्रेणीक्रम स्थिति वाले निवृत्ति (अपूर्वकरण) नामक आठवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

यद्यपि श्रेणी-आरोहण के कारण प्राप्त क्रमिक विशुद्धता के बढ़ने से जीव के कषाय भावों में काफी निर्बलता आ जाती है; फिर भी उन कषायों में पुनः उद्रेक होने की शक्ति बनी रहती है। अतः ऐसे कषायपरिणाम वाले जीवों का बोध कराने के लिए आठवें के बाद नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय नामक गुणस्थान का कथन किया गया है।

नौवें गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा प्रतिसमय कषायों को कृश करने के प्रयत्न चालू रहते हैं और वैसा होने से एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है, जब संसार की कारणभूत कषायों की एक झलक-सी दिखलाई देती है। इस स्थिति वाले जीव सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

जैसे झाईंमात्र अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु तिरोहित अथवा नष्ट हो जाती है, वैसे ही जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो गई है, उसके शान्त-उपशमित अथवा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने से जीव को शुद्ध—निर्मल स्वभाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकार शान्त (सत्ता में है) और नष्ट (समूल क्षय)—इन दोनों स्थितियों को वतलाने के लिए क्रमशः ग्यारहवां उपशान्तमोह वीतराग और वारहवां क्षीणमोह वीतराग नामक गुणस्थान है।

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मस्तव

[द्वितीय कर्मग्रन्थ]

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

अर्थ—श्री वीर जिनेश्वर ने जिस प्रकार गुणस्थानों में वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता स्थान को प्राप्त हुए समस्त कर्मों का क्षय किया है, उसी प्रकार हम भी कर सकें, इसी आशय से उनकी स्तुति करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में श्री वीरजिनेश्वर की स्तुति करते हुए ग्रंथ में वर्णन किये जाने वाले विषय का संकेत किया है।

स्तुति दो प्रकार से की जाती है—प्रणाम और असाधारण गुणोत्कीर्तन द्वारा। इस गाथा में दोनों प्रकार की स्तुतियों का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन करना स्तुति कहलाता है। सकल कर्मों का निःशेष रूप से क्षय करना भगवान् महावीर का असाधारण और वास्तविक गुण है। उन्होंने कर्मों का जो क्षय किया है, वह किसी एक ही प्रकार की अवस्था रूप में विद्यमान कर्मों का नहीं किया है, अपितु वंध, उदय, उदीरणा, सत्ता रूप समग्र अवस्थाओं में रहे हुए कर्मों का क्षय करके सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है। यह ग्रंथकार द्वारा की गई

मोहनीय कर्म के साथ-साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्त-राय कर्मों का क्षय होने से जीव ने अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि अपने निज गुणों को प्राप्त कर लिया है। लेकिन अभी शरीरादि योगों का सम्बन्ध बना रहने से योगयुक्त वीतरागी जीव सयोगी केवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं और जब शरीरादि योगों से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शनयुक्त स्वरूपरमणता आत्मा में प्रकट हो जाती है तो इसका कथन अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान द्वारा किया जाता है। इस दशा को प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है और संसार का नाश कर सदा के लिए शाश्वत निर्मल सिद्ध, बुद्ध, चैतन्य रूप में रमण करता है।

गुणस्थानों की परिभाषा

जीव के विकास की प्रारम्भिक सीढ़ी पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है और उसकी पूर्णता अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में होती है। विकास के इस क्रम का दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अब मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों का स्वरूप बतलाते हैं।

(१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति) मिथ्या (उल्टी, विपरीत) हो जाती है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, वैसे ही मिथ्यात्वी मनुष्य की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है, अर्थात् कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुधर्म को धर्म समझता है। आत्मा तथा अन्य, चैतन्य व जड़ का विवेकज्ञान ही नहीं होता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप-विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भी कहते हैं।

प्रश्न—विपरीत दृष्टि को यदि मिथ्यादृष्टि कहते हैं तो मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं?

गुणानुवाद रूप स्तुति हुई । गाथा में जो 'थुणिमो' क्रियापद दिया है उससे प्रणामरूप स्तुति की गई है ।

कारण के बिना कार्य नहीं होता है । जीव का संसार में परिभ्रमण करना कार्य है और उसका कारण है कर्म । जब तक जीव संसार में रहता है, तब तक कर्मों की बंध, उदय आदि अवस्थायें होती रहती हैं । किन्तु जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होने के साथ-साथ नवीन कर्मों का बंध होना भी कम हो जाता है, वैसे-वैसे कर्मों की सत्ताशक्ति आदि भी धीरे-धीरे निस्सत्व—निश्शेष होती जाती है और आत्मिक गुणों का क्रमशः विकास होते-होते अन्त में समग्र रूप में कर्मक्षय होने पर जीव शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

जीव द्वारा इस शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं परन्तु नवीन कर्म बांधने की योग्यता का जब तक अभाव नहीं होता पूर्वबद्ध कर्मों की आत्यन्तिक निर्जरा नहीं हो जाती, तब तक कर्म का बंधन होना सम्भव है । कर्मों की सिर्फ बंध और क्षय ये दो स्थितियाँ ही नहीं हैं, किन्तु फल देना आदि रूप और भी स्थितियाँ होती हैं । कर्म की इन स्थितियों—अवस्थाओं को मुख्य रूप से बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता कहते हैं । इन अवस्थाओं में बंधावस्था मुख्य है, अर्थात् बंध होने पर उदय, उदीरणा, सत्ता आदि स्थितियाँ होती हैं । इन्हीं अवस्थाओं का वर्णन क्रमशः इस ग्रन्थ में किया जा रहा है । जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

बंध—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के निमित्तों से ज्ञानावरणादि रूप से परिणत होकर अनन्तानन्त प्रदेश वाले सूक्ष्म कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाढ़ होकर मिल जाना बंध कहलाता है । मिथ्यात्वादि से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और बंधे हुए कर्मपुद्गलों के कारण

क्षय करने के लिए श्रेणीक्रम पर आरोहण करते हैं और परिणाम शुद्ध से शुद्धतर होते जाते हैं। श्रेणी का यह क्रम पहले की अपेक्षा दूसरे, दूसरे की अपेक्षा तीसरे समय में अपूर्व ही होता है और इस श्रेणीक्रम में एक की दूसरे से, दूसरे से तीसरे आदि की तुलना या समानता नहीं होती है। अतः ऐसी श्रेणीक्रम स्थिति वाले निवृत्ति (अपूर्वकरण) नामक आठवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

यद्यपि श्रेणी-आरोहण के कारण प्राप्त क्रमिक विशुद्धता के बढ़ने से जीव के कषाय भावों में काफी निर्बलता आ जाती है; फिर भी उन कषायों में पुनः उद्रेक होने की शक्ति बनी रहती है। अतः ऐसे कषायपरिणाम वाले जीवों का बोध कराने के लिए आठवें के बाद नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय नामक गुणस्थान का कथन किया गया है।

नौवें गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा प्रतिसमय कषायों को कृश करने के प्रयत्न चालू रहते हैं और वैसा होने से एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है, जब संसार की कारणभूत कषायों की एक झलक-सी दिखलाई देती है। इस स्थिति वाले जीव सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

जैसे झाईंमात्र अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु तिरोहित अथवा नष्ट हो जाती है, वैसे ही जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो गई है, उसके शान्त-उपशमित अथवा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने से जीव को शुद्ध—निर्मल स्वभाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकार शान्त (सत्ता में है) और नष्ट (समूल क्षय)—इन दोनों स्थितियों को बतलाने के लिए क्रमशः ग्यारहवां उपशान्तमोह वीतराग और बारहवां क्षीणमोह वीतराग नामक गुणस्थान है।

जीव मिथ्यात्व आदि रूप परिणाम करता रहता है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर आश्रित हैं।

उदय—उदयकाल[1] आने पर शुभाशुभ फल का भोगना उदय कहलाता है। अर्थात् बांधी गई कर्म की स्थिति के अनुसार अथवा अपवर्तना-उद्वर्तना आदि करणों से कम हुई अथवा बढ़ी हुई स्थिति के अनुसार यथासमय उदयावलि में प्राप्त कर्म का वेदन होना उदय कहलाता है।

बंधनकाल में कर्म के कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र व मंद भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र, मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और तदनुसार उदयकाल आने पर कर्म को भोगना पड़ता है। यह फल देने की शक्ति स्वयं कर्म में निष्ठ होती है उसी कर्म के अनुसार फल देती है। दूसरे कर्म के स्वभाव-अनुसार नहीं।

कर्म का वेदन बंध होते ही तत्काल नहीं होता है, किन्तु कुछ समय-विशेष तक स्थिर रहने के बाद उसका वेदन होना प्रारम्भ होता है। इस स्थिर रहने के समय को आबाधाकाल[2] कहते हैं। जैसे वर्तमान में पानी कितना भी उबल रहा हो, लेकिन उसमें पकने के लिए डाली गई वस्तु कुछ समय के लिए बर्तन के तले में बैठ जाती है और फिर उसके बाद उसका पकना प्रारम्भ होता है। इस प्रकार तले में बैठने की स्थिति और समय जैसा अबाधाकाल समझना चाहिए।

---

१. अबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर जिस कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते हैं।

२. बंधे हुए कर्म से जितने समय तक आत्मा को शुभाशुभ फल का वेदन नहीं होता, उतने समय को आबाधाकाल कहते हैं।

मोहनीय कर्म के साथ-साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय होने से जीव ने अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि अपने निज गुणों को प्राप्त कर लिया है। लेकिन अभी शरीरादि योगों का सम्बन्ध बना रहने से योगयुक्त वीतरागी जीव सयोगी केवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं और जब शरीरादि योगों से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शनयुक्त स्वरूपरमणता आत्मा में प्रकट हो जाती है तो इसका कथन अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान द्वारा किया जाता है। इस दशा को प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है और संसार का नाश कर सदा के लिए शाश्वत निर्मल सिद्ध, बुद्ध, चैतन्य रूप में रमण करता है।

गुणस्थानों की परिभाषा

जीव के विकास की प्रारम्भिक सीढ़ी पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है और उसकी पूर्णता अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में होती है। विकास के इस क्रम का दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अब मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों का स्वरूप बतलाते हैं।

(१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति) मिथ्या (उल्टी, विपरीत) हो जाती है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, वैसे ही मिथ्यात्वी मनुष्य की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है, अर्थात् कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुधर्म को धर्म समझता है। आत्मा तथा अन्य, चैतन्य व जड़ का विवेकज्ञान ही नहीं होता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप-विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भी कहते हैं।

प्रश्न—विपरीत दृष्टि को यदि मिथ्यादृष्टि कहते हैं तो मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं ?

लेकिन यह आबाधाकाल सभी कर्मों का अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। कभी तो यह आबाधाकाल स्वाभाविक क्रम के अनुसार व्यतीत होता है और कभी कारण-विशेष, वीर्य-विशेष के संयोग से शीघ्र भी पूरा हो जाता है। अबाधाकाल के इस शीघ्र पूर्ण होने को अपवर्तनाकरण[1] कहते हैं।

जिस प्रकार वीर्य-विशेष से पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति व रस घटाया जा सकता है, उसी प्रकार वीर्य-विशेष से कर्म अपने स्वरूप को छोड़कर अपने सजातीय स्वरूप में परिवर्तित कर भोगा भी जा सकता है। अर्थात् वीर्य-विशेष से कर्म का अपनी ही दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति स्वरूप को प्राप्त कर लेना संक्रमण कहलाता है।

कर्मों की मूल प्रकृतियों का एक दूसरे में संक्रमण होता नहीं है। किंतु मूल कर्म के उत्तर भेदों में संक्रमण होता भी है और नहीं भी होता है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्म मूल कर्मप्रकृति है और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि उत्तर भेद हैं। इनमें से मतिज्ञानावरण कर्म श्रुतज्ञानावरण कर्म के रूप में अथवा श्रुतज्ञानावरण कर्म मतिज्ञानावरण आदि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि ये प्रकृतियाँ मूल कर्म ज्ञानावरण के उत्तर भेद होने से परस्पर में सजातीय हैं और ज्ञान को ही आवृत करती हैं। किन्तु आत्मा के अन्य गुणों को आवृत करने की सामर्थ्य नहीं रखती हैं। अर्थात् ज्ञानावरण का दर्शनावरण के रूप में और दर्शनावरण का ज्ञानावरण कर्म के रूप में परिवर्तन नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों कर्मों का अलग-अलग स्वभाव है और अलग-अलग

---

१. जिस वीर्यविशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, उसको अपवर्तनाकरण कहते हैं।

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि विपरीत है तो भी वह कि अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, प पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता तथा मान है। इसीलिए उसके चेतना स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्र सर्वथा ढक नहीं जाती है, किन्तु कुछ-न-कुछ खुली रहती है, जिस कि दिन-रात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा ढ नहीं जाता है, किन्तु आंशिक रूप में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथा होती है। इसके सिवाय निगोदिया जीव को भी आंशिक रूप से ए प्रकार का अव्यक्त स्पर्श मात्र उपयोग होता है। यदि यह न मा जाये तो निगोदिया जीव अजीव कहलायेगा।[1] इसीलिए मिथ्या गुणस्थान माना जाता है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि को किसी अंश में यथार्थ हो मानते हैं तो उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है?

उत्तर—यह ठीक है कि किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि यथा होती है, लेकिन इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकत है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि द्वादशांग सूत्रोक्त एक अक्षर प भी जो विश्वास नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है; जैसे—जमाली।[2] लेकि

---

१. सव्वजीवाणं पि य अक्खरस्स अणंतमोभागो निच्चं उग्घाडियो चिट्ठइ। ज पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा।—नंदी० ७५

२. पयमवि असद्दहंतो सुत्तत्थं मिच्छदिट्ठओ।
पयमक्खरंपि इक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं।
सेसं रोयंतो वि हु मिच्छदिट्ठी जमालिव्व।

कार्य करने की क्षमता रखते हैं और अपने स्वभाव के अनुरूप ही कार्य कर सकते हैं। किन्तु अपने मूल स्वभाव को छोड़ने की शक्ति नहीं रखते हैं। यदि कर्मों की मूल प्रकृतियाँ अपने मूल स्वभाव को छोड़ दें तो उनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा और संख्या भी नियत नहीं रहेगी।

यद्यपि यह तो निश्चित है कि कर्मों की मूल प्रकृतियाँ संक्रमण नहीं करती हैं। लेकिन उत्तर प्रकृतियों में कितनी ऐसी भी हैं, जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नहीं करती हैं, जैसे—दर्शन-मोह और चारित्रमोह-ये दोनों मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ हैं, किन्तु इनमें से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता है। इसी तरह आयु कर्म के उत्तरभेदों के बारे में भी समझना चाहिए कि नारक-आयुष्क का तिर्यंच-आयुष्क के रूप में अथवा किसी अन्य आयुष्क के रूप में भी संक्रमण नहीं होता है।

उदीरणा—उदय काल प्राप्त हुए विना ही आत्मा की सामर्थ्य-विशेष से कर्मों को उदय में लाना उदीरणा है। अर्थात् आवाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्न-विशेष से उदयावलि में लाकर उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा कहलाता है।

सत्ता—वंधे हुए कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाती है।

जैसे कि मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वी ये दो कर्म वंधे हों तो वे दोनों वंध होने के कारण अपने स्वरूप को प्राप्त हुए माने जाएँगे और जब तक दोनों अपने स्वरूप में स्थित रहेंगे, तव तक उनकी सत्ता मानी जायेगी।

सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि उसे सर्वज्ञ के कथन पर अखण्ड विश्वास होता है और मिथ्यात्वी को नहीं होता है। इसीलिए मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी नहीं कहते हैं।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिामों का अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धा वाला हो जाता है। जिसप्रकार पित्त ज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता, उसीप्रकार उसको यथार्थ धर्म भी अच्छा मालूम नहीं होता है।[1]

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धानरूप होने वाले मिथ्यात्व के ये पाँच भेद होते हैं—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशयित, (५) अज्ञान।[2]

एकान्त मिथ्यात्व—अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे—"वस्तु सर्वथा क्षकि ही है, अथवा नित्य ही है।"

विपरीत मिथ्यात्व—धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना, विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे—"हिंसा से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।"

विनय मिथ्यात्व—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, देव, गुरु और उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखना, विनय मिथ्यात्व है।

---

१. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
णय धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड—१७

२. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं॥

—गो० सार जीवकाण्ड—१५

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बन्ध होने के कारण सत्तारूप होने पर भी उसमें से फल देने की शक्ति कम हो जाने से उसके अर्द्ध रस वाले और नीरसप्राय—ये दो विभाग और हो जाते हैं और उन दोनों के बंध न होने पर भी मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों ने बिना बन्ध के ही, अपने स्वरूप को प्राप्त करने के द्वारा अपनी विद्यमानता सिद्ध कर सत्ता प्राप्त की है।

इन बन्ध आदि स्थितियों वाले समस्त कर्मों का क्षणमात्र में ही भगवान महावीर ने क्षय नहीं किया था। किन्तु क्रमशः उनके क्षय द्वारा श्रेणी-अनुश्रेणी आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास कर परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बने थे। यही आत्मशक्तियों के विकास का क्रम है और प्रत्येक आत्मा को इसके लिए अपने-अपने प्रयत्न करने पड़ते हैं।

जीव द्वारा अपने विकास के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों से ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की अपेक्षा से उपलब्ध स्वरूप-विशेष को गुण-स्थान कहते हैं। अर्थात् गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव का स्वभाव और स्थान—उनकी तरतमता से उपलब्ध स्वरूप को गुणस्थान कहते हैं।

ये स्वरूप-विशेष ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होते हैं। गुणों की शुद्धि और अशुद्धि में तरतमभाव होने का कारण दर्शन-मोहनीय आदि कर्मों का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि हैं। अर्थात् जब प्रतिरोधक कर्म कम हो जाता है, तब ज्ञान-दर्शनादि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट हो जाती है, और जब प्रतिरोधक कर्म की अधिकता होती है, तब ज्ञानादि गुणों क शुद्धि कम होती है। आत्मिक गुणों के इस न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था को गुणस्थानक्रम कहते हैं।

संशय मिथ्यात्व—समीचीन और असमीचीन—दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक का निश्चय न होना, संशय मिथ्यात्व कहलाता है।

अज्ञान मिथ्यात्व—जीवादि पदार्थों को—'यही है', 'इस प्रकार है'—इस तरह विशेष रूप से न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

काल की विवक्षा से मिथ्यात्व के निम्नलिखित तीन भेद होते हैं—

(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३) सादि-सान्त।

इनमें से अनादि-अनन्त मिथ्यात्व अभव्य जीव को, अनादि-सान्त भव्य जीव को और सादि-सान्त उच्च गुणस्थान से पतित होकर निम्न गुणस्थान पर आने वाले जीव को होता है।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के निम्नप्रकार से दस भेद भी बताये हैं—

(१) अधर्म में धर्म की बुद्धि, (२) धर्म में अधर्म की बुद्धि,
(३) उन्मार्ग में मार्ग की बुद्धि, (४) मार्ग में उन्मार्ग की बुद्धि,
(५) अजीव में जीव की बुद्धि, (६) जीव में अजीव की बुद्धि,
(७) असाधु में साधु की बुद्धि, (८) साधु में असाधु की बुद्धि,
(९) अमूर्त में मूर्त की बुद्धि, (१०) मूर्त में अमूर्त की बुद्धि।[1]

आगम में वर्णित इन दसों भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व के आभिग्राहिकादि पाँच तथा लौकिकादि दस—ऐसे पन्द्रह भेद और भी मिलते हैं। वे स्वतन्त्र भेद न होकर इन्हीं दस प्रकार के मिथ्यात्वों का स्पष्टीकरण करने वाले हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

---

१. दस विहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानांग १०।७३४

यद्यपि शुद्धि और अशुद्धि से जन्य जीव के स्वरूप-विशेष असंख्य प्रकार के हो सकते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप में चौदह गुणस्थानों के रूप में अन्तर्भाव हो जाता है। ये गुणस्थान मोक्ष-महल को प्राप्त करने के लिए सोपान के समान हैं।

प्रत्येक गुणस्थान में कितनी-कितनी और किन-किन प्रकृतियों का वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता हो सकती है, इसका वर्णन क्रमशः आगे की गाथाओं में किया जा रहा है।

गुणस्थानों के नाम

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, निवृत्ति, अनिवृत्ति, सूक्ष्म, उपशम, क्षीण, सयोगि और अयोगि—ये गुणस्थान हैं।

विशेषार्थ—गुणस्थानों में कर्मों की वन्ध आदि अवस्थाओं को वतलाने से पहले गुणस्थानों के नामों का कथन करना जरूरी होने से इस गाथा में गुणस्थानों के नाम गिनाये हैं। इनके नाम और क्रम इस प्रकार है—

(१) मिथ्यात्व,
(२) सास्वादन (सासादन)
(३) मिश्र (सम्यग्मिथ्यादृष्टि),
(४) अविरत सम्यग्दृष्टि,
(५) देशविरत,
(६) प्रमत्तसंयत,
(७) अप्रमत्तसंयत,
(८) निवृत्ति (अपूर्वकरण),
(९) अनिवृत्ति वादर संपराय,
(१०) सूक्ष्म संपराय,
(११) उपशान्तमोह वीतराग,
(१२) क्षीणमोह वीतराग,
(१३) सयोगी केवली,
(१४) अयोगी केवली।

(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) शयिक, (५) अनाभोगिक, (६) लौकिकमिथ्यात्व, (७) लोकोत्तर थ्यात्व, (८) कुप्रावचिनक मिथ्यात्व, (९) न्यून मिथ्यात्व, (१०) धिक मिथ्यात्व, (११) विपरीत मिथ्यात्व, (१२) अक्रिया थ्यात्व, (१३) अज्ञान मिथ्यात्व, (१४) अविनय मिथ्यात्व, (१५) ाशातना मिथ्यात्व।

पूर्वोक्त दस और इन पन्द्रह भेदों को मिलाने से मिथ्यात्व के कुल च्चीस भेद हो जाते हैं और इन सबको संक्षेप में कहा जाये तो सर्गिक मिथ्यात्व और परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व—ये दो भेद होंगे।

मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनअर्धपुद्‌गलपरावर्तन[1] है।

(२) **सास्वादन गुणस्थान**—जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, तब तक अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूप विशेष को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने के पहले मध्य का जो काल है, वह न पर्वत पर ठहरने का काल है और न भूमि

---

१. आहारक शरीर को छोड़कर शेष औदारिकादि सात प्रकार की रूपी वर्गणाओं को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्‌गलों का स्पर्श करना पुद्‌गलपरावर्तन कहलाता है। एक पुद्‌गलपरावर्तन व्यतीत होने में अनन्त कालचक्र लग जाते हैं। उसका आधा हिस्सा अर्ध-पुद्‌गलपरावर्तन है और उस आधे हिस्से में भी एक देश कम को देशोनअर्धपुद्‌गल परावर्तन कहते हैं। (विशेष परिशिष्ट में देखिये।)

उक्त नामों में प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ लेना चाहिए; जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान आदि।

गुणस्थानों के नामों के क्रम में जीव के आध्यात्मिक विकास की व्यवस्थित प्रणाली के दर्शन होते हैं कि पहले-पहले के गुणस्थान की अपेक्षा आगे-आगे के गुणस्थान में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है। परिणामतः आगे-आगे के गुणस्थानों में अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियों का अधिक बन्ध होता है और क्रम-क्रम से शुभ प्रकृतियों का भी बन्ध रुक जाने से अन्त में जीवमात्र के लिए प्राप्त करने योग्य शुद्ध, परम शुद्ध प्रकाशमान आत्मरमणता रूप परमात्मा पद प्राप्त हो जाता है।

गुणस्थानों की व्यवस्था—जगत् में अनन्त जीव हैं। उनमें प्रत्येक जीव एक समान दिखाई नहीं देता है। इन्द्रिय, वेद, ज्ञानशक्ति, उपयोगशक्ति, लक्षण आदि विभागों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से शास्त्र में जीवों के भेद बतलाये गये हैं और जगत में वैसा दिखता भी है। परन्तु आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से जो विभाग किये गये हैं, वे इन गुणस्थानों की व्यवस्था से बराबर व्यवस्थित रूप में समझ सकते हैं।

सामान्यतया आध्यात्मिक दृष्टि से जगत में जीवों के दो प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्वी—मिथ्यादृष्टि, (२) सम्यक्त्वी—सम्यग्दृष्टि। अर्थात् कितने ही जीव गाढ़ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ, आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यतीत करने वाले होते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में अज्ञानी और विपरीत बुद्धि वाले जीवों को मिथ्यात्वी कहते हैं। ऐसे जीवों का बोध कराने के लिए पहला मिथ्यात्व—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

पर ठहरने का है, किन्तु अनुभयकाल है। इसीप्रकार अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय होने से सम्यक्त्व परिणामों के छूटने पर और मिथ्यात्व परिणामों के प्राप्त न होने पर मध्य के अनुभय काल में जो परिणाम होते हैं, उनको सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वादन अनुभव में आता है। अतएव इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति विषयक प्रक्रिया इस प्रकार है—

अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व)—इन सातों के उपशम होने से आत्मा की जो तत्त्वरुचि होती है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसमें मिथ्यात्व प्रेरक—कर्मपुद्गल सत्ता में रहकर भी राख में दबी हुई अग्नि की तरह कुछ समय उपशान्त रहते हैं। इसके दो भेद हैं—ग्रन्थिभेद-जन्य और उपशमश्रेणिभावी।

ग्रन्थिभेद-जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को प्राप्त होता है। प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्ति-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—ऐसे तीन करण (प्रयत्न-विशेष) किये जाते हैं। उनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है—

जीव अनादि काल से संसार में घूम रहा है और तरह-तरह से दुःख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पड़ा हुआ पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन

सम्यक्त्वधारियों में भी तीन भेद हो जाते हैं--(१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्प सम्यक्त्व वाले, (२) अर्द्ध सम्यक्त्व और अर्द्ध मिथ्यात्व वाले, (३) विशुद्ध सम्यक्त्व वाले, किन्तु चारित्ररहित। उक्त स्थिति वालों में से स्वल्प सम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरा सास्वादन गुणस्थान, आधे सम्यक्त्व और आधे मिथ्यात्व वाले जीवों के लिए तीसरा मिश्र गुणस्थान और विशुद्ध सम्यक्त्व, किन्तु चारित्र-रहित जीवों के लिए चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का कथन किया गया है।

चारित्ररहित सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान वाले कहलाते हैं। लेकिन जो जीव सम्यक्त्व और चारित्र सहित हैं, उनके भी दो प्रकार हो जाते हैं—(१) एकदेश (आंशिक) चारित्र का पालन करने वाले और (२) सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वाले। इन दोनों भेदों में से एकदेश चारित्र का पालन करने वाले जीवों का ग्रहण करने के लिए पाँचवें देशविरत नामक गुणस्थान का कथन है।

सम्पूर्ण चारित्र का पालन करने वालों में भी संयम पालन करने में प्रमादवश अतिचार, दोष लगाने वाले प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती और प्रमाद के अभाव से निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान वाले कहलाते हैं। अर्थात् प्रमादसहित सर्व संयमी और प्रमादरहित सर्व संयमी जीव क्रमशः प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनमें प्रमत्तसंयत छठा और अप्रमत्तसंयत सातवां गुणस्थान है।

यद्यपि अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों ने अभी पूर्ण वीतराग-दशा प्राप्त नहीं कर ली है, किन्तु छद्मस्थ—कर्मावृत हैं। लेकिन वीतराग दशा प्राप्त करने की ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतः अप्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती जीवों में से कितनेक कर्मों का व्यवस्थित रीति से

जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दुःख सहते-सहते कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम-शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इस परिणाम को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव रागद्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुँच जाता है किन्तु उसे भेद नहीं सकता, इसको ग्रंथिदेशप्राप्ति कहते हैं। कर्म और राग-द्वेष की यह गांठ क्रमशः दृढ़ और गूढ़ रेशमी गांठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के अन्दर करके वे जीव भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसे भेद नहीं सकते।

भव्य जीव जिस परिणाम से राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़कर लांघ जाता है, उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम जीव को वार-बार नहीं आता, कदाचित् ही आता है, इसलिए इसका नाम अपूर्वकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त वार आता है, किन्तु अपूर्वकरण भव्य जीवों को भी अधिक वार नहीं आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये विना नहीं लौटता है। इसीलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाती है।

अनिवृत्तिकरण की जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बतलाई गई है, उस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया

होती है, अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्तसमय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्म-दलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नहीं रहता। अतएव जिसका आबाधाकाल पूरा हो चुका है—ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है, जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरणक्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नहीं रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है, वे सब दलिक अन्तरकरण की क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एवं असंदिग्ध प्रतीति होनी लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता। इसलिए जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे किसी पुराने एवं भयंकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की

यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर रहते हैं। अर्थात् कभी सातवें से छठा कभी छठे से सातवां गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य से एक समय औ उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्त मुनि य तो आठवें गुणस्थान में पहुँचकर उपशम, क्षपक श्रेणी ले लेते हैं या पुन छठे गुणस्थान में आ जाते हैं।

(८) **निवृत्ति बादर गुणस्थान**—इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहत हैं। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति—ये तीनों समानार्थवाचक शब हैं, जिसमें अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण औ प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चौक रूपी बादर कषाय की निवृत्ति ह जाती है, उस अवस्था को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त में छठा और अन्तर्मुहूर्त में सातवाँ गुणस्थान होत रहता है। परन्तु इस प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के स्पर्श से ज संयत (मुनि) विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणि मांड़ने वाला होता है, वह अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में आत है। दोनों श्रेणियों का प्रारम्भ यद्यपि नौवें गुणस्थान से होता है, किन्त उनकी आधारशिला इस गुणस्थान में रखी जाती है। आठवां गुण स्थान दोनों प्रकार की श्रेणियों की आधारशिला बनाने के लिए है और नौवें गुणस्थान में श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं। अर्थात् आठवें गुण- स्थान में उपशमन या क्षपण की योग्यता मात्र होती है। आठवें गुण- स्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। वे ये हैं—

(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुण- संक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबंध। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **स्थितिघात**—कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना, अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें

स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल, जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बताया है, वे उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते हैं। उपशान्ताद्धा के पूर्व, अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत (औपशमिक सम्यक्त्व के बाद उदय में आने वाले) मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है। जिस प्रकार कोद्रवधान्य (कोदों नामक धान्य) का एक भाग औषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिलकुल नशा नहीं आता, दूसरा भाग अर्द्ध शुद्ध और तीसरा भाग अशुद्ध रह जाता है, उसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुंजों में से एक पुंज इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्व घातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ति) नहीं रहता। दूसरा पुंज आधा शुद्ध और तीसरा पुंज अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुंजों में से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुंज उदय में आता है, उससे सम्यक्त्व का घात नहीं होता। उस समय प्रगट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुंज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुंज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलि-

अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

(२) **रसघात**—बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

(३) **गुणश्रेणी**—जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते हैं, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणि कहलाती है।

स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—

उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं, उनमें से उदयावलि के समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असंख्यात गुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय पर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले-पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात गुणे ही समझना चाहिए।

(४) **गुणसंक्रमण**—पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंध हो रही शुभ प्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना, अर्थात् पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना गुणसंक्रमण कहलाता है। गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का संक्रमण होता है, तीसरे में दूसरे की अपेक्षा

काएँ शेष रहने पर किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव के चढ़ते परिणामों में विघ्न पड़ जाता है, अर्थात् उनकी शान्ति भंग हो जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से जीव सम्यक्त्व परिणाम को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। जब तक वह मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाओं तक सास्वादन भाव का अनुभव करता है उस समय जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है, दूसरा नहीं।

उक्त कथन में पल्योपम—सागरोपम का प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिए—

एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए, उसे पल्योपम कहते हैं तथा दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

सास्वादन गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका तक की है।

(३) **मिश्रगुणस्थान**—इसका पूरा नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। किन्तु संक्षेप में समझने के लिए मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध, अर्द्धशुद्ध और शुद्ध—इन तीनों पुंजों में से अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय न होने से शुद्धता और मिथ्यात्व के अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों के उदय होने से अशुद्धता रूप जब अर्द्ध शुद्ध पुंज का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्यात्व (अशुद्ध), अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) तथा उसका स्वरूपविशेष सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) कहलाता है।

इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता-सी आ जाती है, जिससे

असंख्यात गुण । इस प्रकार जब तक गुण-संक्रमण होता रहता है, तब तक पहले-पहले समय में संक्रमण किये गये दलिकों से आगे-आगे के समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

(५) अपूर्व स्थितिबंध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बांधना अपूर्व स्थितिबंध कहलाता है।

यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में ये अपूर्व ही होती हैं। क्योंकि पूर्व गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है। पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अत्यल्प रस का घात होता है परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति और अधिक रस का घात होता है। इसी प्रकार पहले के गुणस्थानों में गुण-श्रेणि की कालमर्यादा अधिक होती है तथा जिन दलिकों की गुण-श्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है, वे दलिक अल्प होते हैं। और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि योग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, किन्तु गुणश्रेणि का कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुण संक्रमण बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प स्थिति के कर्म बांधे जाते हैं कि जितनी अल्प स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नहीं बँधते हैं।

इस प्रकार इस गुणस्थान में स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस गुणस्थान को अपूर्वकरण कहते हैं।

इस आठवें गुणस्थान से विशिष्ट योगी रूप आत्मा की अवस्था शुरू होती है, अर्थात् औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल पैदा करने के लिए चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करना

जीव सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है और न एकान्त अरुचि। किन्तु नारिकेल द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को जैसे चावल आदि अन्न के विषय में समभाव रहता है, वैसे मध्यस्थ रहता है। अर्थात् जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होता है, वहाँ के निवासियों ने चावल आदि अन्न न कभी देखा होता है और न सुना। इससे वे अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देखकर उसके विषय में रुचि या घृणा नहीं करते। किन्तु मध्यस्थभाव ही रहते हैं। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति न करके समभाव ही रहते हैं।

जिस प्रकार दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकें, तब उसके प्रत्येक अंश का मिश्र रूप (कुछ खट्टा और कुछ मीठा— दोनों का मिला हुआ रूप) होता है। इसी प्रकार आत्मा के गुणों का घात करने वाली कर्म प्रकृतियों में से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का कार्य विलक्षण प्रकार का होता है। उससे केवल सम्यक्त्व रूप या केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम न होकर दोनों के मिले-जुले (मिश्र रूप) परिणाम होते हैं। अर्थात् एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते हैं।[1]

शंका—मिश्र रूप परिणाम ही नहीं हो सकने से यह तीसरा गुणस्थान बन नहीं सकता है। यदि विरुद्ध दो प्रकार के परिणाम एक ही आत्मा और एक ही काल में माने जायें तो शीत-उष्ण की तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आयेगा। यदि क्रम से दोनों

---

१. दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ॥

—गोम्मट० जीव का० २२

ड़ता है और वह करने के लिए भी तीन करण करने पड़ते हैं—थाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उनमें यथावृत्तिकरण रूप सातवाँ गुणस्थान है, अपूर्वकरण रूप आठवाँ गुणस्थान है और अनिवृत्तिकरण रूप नौवाँ गुणस्थान है।

जो अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों (परिणाम भेदों) की संख्या असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है। क्योंकि इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं। जिनमें से केवल प्रथम समयवर्ती तीनों कालों के जीवों के अध्यवसाय भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर हैं। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे आदि समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर ही हैं।

असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। अतः एक-एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या—ये दोनों संख्याएँ सामान्यतः एक-सी, अर्थात् असंख्यात ही हैं; फिर भी ये दोनों असंख्यात संख्याएँ परस्पर भिन्न हैं।

इस आठवें गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीव अनन्त और उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में पृथक्-पृथक् (न्यूनाधिक शुद्धि वाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत से जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धि वाले होने से अलग-अलग नहीं माने जाते हैं। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं, वे जघन्य और जो अध्यवसाय

परिणामों की उत्पत्ति मानी जाये तो मिश्र रूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता है।

समाधान—शंकाकार का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मित्र मित्र न्याय से एक काल और एक ही आत्मा में मिश्र रूप परिणा हो सकते हैं। जैसे कि देवदत्त नामक व्यक्ति में यज्ञदत्त की अपेक्ष मित्रपना और धर्मदत्त की अपेक्षा अमित्रपना—ये दोनों धर्म एक काल में रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है। वैसे ही सर्वज्ञप्रणी पदार्थ के स्वरूप के श्रद्धान की अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास कथित अतत्त्व श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापन ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मा में घटित हो सकते हैं। इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं है।

मिश्र गुणस्थानवर्ती (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) जीव परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध नहीं कर सकता है[1] और मरण भी नहीं होता है। यदि इस गुणस्थान वाला जीव मरण करता है तो सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप दोनों परिणामों में से किसी एक को प्राप्त करके ही मर सकता है। अर्थात् इस गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों में से जिस जाति के परिणाम काल में परभव सम्बन्धी आयु का बंध किया हो तो उसी तरह के परिणाम होने पर उसका मरण होता है। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्‌घात भी नहीं हो सकता है।[2] इसके अतिरिक्त सम्यग्‌मिथ्यादृष्टि जीव संयम (सकल संयम और एकदेश संयम) को ग्रहण नहीं कर सकता है।

---

१. सम्मामिच्छादिट्ठी आउ बंधंपि न करेइ त्ति।

२. मूल शरीर को बिना छोड़े ही, आत्मा के प्रदेशों को बाहर निकलने को समुद्‌घात कहते हैं। उसके सात भेद हैं—वेदना, कषाय, वैक्रियक, मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवल। मरण से पूर्व समय में होने वाले समुद्‌घात को मारणान्तिक समुद्‌घात कहते हैं।

अन्य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते हैं, उत्कृ
कहलाते हैं।

इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का और दूसरा व
उत्कृष्ट अध्यवसायों का होता है। इन दोनों वर्गों के बीच
असंख्यात वर्ग हैं, जिनके सब अध्यवसाय मध्यम कहलाते हैं। प्रथ
वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृ
अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक मानी जाती है और बीच
सब वर्गों में पूर्व-पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा परस्पर वर्ग
अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते हैं।

सामान्यतः इस प्रकार समझना चाहिए कि समसमयवर्ती अध्
वसाय एक दूसरे से—

(१) अनन्त भाग अधिक शुद्ध,

(२) असंख्यात भाग अधिक शुद्ध,

(३) संख्यात भाग अधिक शुद्ध,

(४) संख्यात गुण अधिक शुद्ध,

(५) असंख्यात गुण अधिक शुद्ध,

(६) अनन्त गुण अधिक शुद्ध होते हैं।

इस प्रकार अधिक शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त भाग अधिक शुद्ध आदि
छह प्रकारोंको षट्स्थान कहते हैं।[1]

इस प्रकार शुद्धिकरण के क्रम में प्रथम समय के अध्यवसायों की

---

१. उत्कृष्ट की अपेक्षा हीन षट्स्थानों के नाम ये हैं—
(१) अनन्त भाग हीन, (२) असंख्यात भाग हीन, (३) संख्यात भ
हीन, (४) संख्यात गुण हीन, (५) असंख्यात गुण हीन, (६) अन
गुण हीन।

मिथ्यात्व मोहनीय के अर्द्ध विशुद्ध पुंज (सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र) का उदय अन्तर्मुहूर्त मात्र पर्यन्त रहता है। इसके अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय हो आता है। अतएव तीसरे गुण-स्थान की कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी जाती है।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—हिंसादि सावद्य व्यापारों को छोड़ देने, अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाने को विरति कहते हैं।[1] चारित्र, व्रत विरति के ही नाम हैं। जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है और उसके स्वरूप विशेष को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहने और सम्यक्दर्शन के साथ संयम न होने का कारण यह है कि यहाँ पर एकदेश संयम के घातक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है।

सम्यग्दृष्टि जीव केवली द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है। किन्तु अज्ञानतावश असद्भाव का भी श्रद्धान कर लेता है तो जैसे ही शास्त्रों द्वारा गुरुओं के समझाये जाने पर असमीचीन श्रद्धान को छोड़कर समीचीन श्रद्धान करना प्रारम्भ कर देता है। यदि गुरु, आचार्य आदि द्वारा समझाये जाने पर भी असमीचीन श्रद्धान को न छोड़े तो उसी समय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं—

(१) जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं, ऐसे साधारण लोग।

---

१. हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति व्रतम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ७।१

अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न समझने चाहिए और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से उस समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त गुण विशुद्ध समझना चाहिए तथा पूर्व-पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध समझना चाहिए।

आठवें गुणस्थान का समय जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण है।

(९) **अनिवृत्ति गुणस्थान**—इसका पूरा नाम अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान है। इसमें बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) उदय में होता है तथा सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही होने, किन्तु भिन्नता न होने से इस गुणस्थान को अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय-स्थान इस गुणस्थान के होते हैं। क्योंकि नौवें गुणस्थान में जो जीव सम-समयवर्ती होते हैं, उन सबके अध्यवसाय एक-से अर्थात् तुल्यशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे आदि नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी समान ही होते हैं और समान अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय-स्थान मान लिया जाता है। अर्थात् इस

(२) जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं, किन्तु पालते हैं
ऐसे अपने आप तप करने वाले बाल तपस्वी।

(३) जो व्रतों को जानते नहीं हैं, किन्तु स्वीकारते हैं औ
स्वीकार कर पालन नहीं करते हैं ऐसे ढीले—पासत्थे साधु जो संय
लेकर निभाते नहीं हैं ।

(४) जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है, किन्तु उनको स्वीकार त
पालन करते हैं। ऐसे अगीतार्थ मुनि।

(५) जिनको व्रतों का ज्ञान है, किन्तु उनको स्वीकार त
पालन नहीं करते हैं। जैसे श्रेणिक, श्रीकृष्ण आदि।

(६) जो व्रतों को जानते हैं, स्वीकार नहीं करते, कि
पालन करते हैं। जैसे अनुत्तर विमानवासी देव।

(७) जो व्रतों को जानते हैं, स्वीकारते है, किन्तु पीछे पाल
नहीं करते है। जैसे संविग्न पाक्षिक ।

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ग्रहण और सम्यक् पालन से ही व्रत सफ
होते हैं। जिनको व्रतों का सम्यक् ज्ञान नहीं, व्रतों को विधिपूर्व
ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते,
घुणाक्षर न्याय से व्रतों को पाल भी लें, तो भी उससे फलप्राप्
सम्भव नहीं है।

अविरत के पूर्वोक्त सात प्रकारों में से आदि के चा
प्रकार के अविरत जीवों को व्रतों का ज्ञान ही नहीं होने से मिथ्या
दृष्टि ही हैं। क्योंकि वे यथाविधि व्रतों को ग्रहण तथा पालन नह
कर सकते, किन्तु उन्हें यथार्थ मानते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों में कोई औपशमिक सम्यक्त्वी, कोई
क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और कोई क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं।

गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलि
प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। अतएव यहाँ पर भि
समयवर्ती परिणामों में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवों
परिणामों में सर्वथा सदृशता ही होती है तथा इन परिणामों के द्वा
कर्मों का क्षय होता है ।[1]

इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

नौवें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते
जितने कि इस गुणस्थान के समय हैं। एक-एक वर्ग में चाहे त्रैकालि
अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त व्यक्तियां शामिल हों, प
उन-उन प्रत्येक वर्ग का अध्यवसाय-स्थान एक ही माना जाता
क्योंकि प्रत्येक वर्ग के सभी अध्यवसाय शुद्धि में बराबर ही होते
लेकिन प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान से—प्रथम वर्गीय अध्यवस
से—दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान—दूसरे वर्ग के अध्यवस
अनन्त गुण विशुद्ध होते हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे अ
नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय
उत्तर-उत्तर समय के अध्यवसाय-स्थान अनन्तगुण विशुद्ध समझ
चाहिए।

यद्यपि आठवें और नौवें गुणस्थान में अध्यवसायों में विशु
होती रहती है ; फिर भी उन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ है
जैसे कि आठवें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों
अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित कि

---

१. ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं।
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सि मेक्क परिणामा।
विमलयर झाण हुयव ह सिहाहिं णिद्दिट्ठ कम्मवणा॥
—गो० जी० काण्ड ५६-५

इस गुणस्थान में जन्म, मरण, आयुष्यबंध, परभव गमन इत्यादि होता है।

(५) देशविरत गुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा तो नहीं किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं, वे देशविरत कहलाते हैं। देशविरत को श्रावक भी कहते हैं। इनका स्वरूप-विशेष देशविरत गुणस्थान है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रसहिंसा से विरत होता ही है, किन्तु बिना प्रयोजन के स्थावर हिंसा को भी नहीं करता है। अर्थात् त्रसहिंसा के त्याग की अपेक्षा विरत, स्थावरहिंसा की अपेक्षा अविरत होने से इस जीव को विरताविरत भी कहते हैं।

इस गुणस्थान में रहने वाले कई श्रावक एक व्रत लेते हैं, कई दो व्रत लेते हैं एवं कई तीन, चार, पाँच यावत् बारह व्रत लेते हैं तथा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण कर आत्मा का कल्याण करते हैं। इस प्रकार अधिक-से-अधिक व्रतों को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं, जो पापकर्मों में अनुमति के सिवाय और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते हैं।

अनुमति के तीन प्रकार हैं–(१) प्रतिसेवानुमति, (२) प्रतिश्रवणानुमति, (३) संवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवानुमति है। पुत्र आदि किसी सम्बन्धी के द्वारा किये गये पापकर्मों को केवल सुनना और सुनकर भी उन कर्मों के करने से उनको नही रोकना प्रतिश्रवणानुमति है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पाप कार्य में प्रवृत्त होने पर उनके ऊपर सिर्फ

ा सकते हैं, किन्तु नौवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त
ीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो
ाकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में
ःषाय के अंश वहुत कम होते जाते हैं और कषायों की न्यूनता के
ानुसार जीव के परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। आठवें गुण-
थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है
क उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों
ी भिन्नताओं से वहुत कम हो जाती हैं।

नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—
१) उपशमक और (२) क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उप-
मन करते हैं, वे उपशमक और जो चारित्र मोहनीय कर्म का क्षपण
रते हैं, वे क्षपक कहलाते हैं। मोहनीय कर्म की उपशमना अथवा
पणा करते-करते अन्य अनेक कर्मों का भी उपशमन या क्षपण
ते हैं।

(१०) **सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात्
भकषाय के सूक्ष्म खण्डों का ही उदय होने से इसका सूक्ष्म सम्पराय
ास्थान ऐसा सार्थक नाम प्रसिद्ध है। जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी
के कपड़े में लालिमा (सुर्खी) सूक्ष्म—झीनी-सी रह जाती है, उसी
ार इस गुणस्थानवर्ती जीव संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन
रता है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक अथवा क्षपक होते हैं। लोभ
सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म की दूसरी ऐसी प्रकृति ही नहीं होती,
सका उपशमन या क्षपण नहीं हुआ हो। अतः जो उपशमक होते हैं,
ोभकषाय मात्र का उपशमन और जो क्षपक होते हैं, वे लोभकषाय
क्षपण करते हैं।

ममता रखना, अर्थात् न तो पाप कार्य को सुनना और सुनकर भा न उसकी प्रशंसा करना संवासानुमति है। जो श्रावक, पाप-जनक प्रारंभों में किसी प्रकार से भी योग नहीं देता, केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों में श्रेष्ठ है।

देशविरत गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंच जाति वाले जीवों के ही होता है। प्रथम एक से चार तक के गुणस्थान चारों गति—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक—के जीवों के हो सकते हैं।

इस गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोन पूर्व कोटि पर्यन्त है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वे संयत (मुनि) हैं। लेकिन संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं। तबतक वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव सावद्य कर्मों का यहाँ तक त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति को भी नहीं सेवते हैं।

यद्यपि सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से इस गुणस्थान में पूर्ण संयम तो हो चुकता है, किंतु संज्वलन आदि कषायों के उदय से संयम में मल उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे प्रमत्तसंयत कहते हैं।

प्रमाद के पन्द्रह प्रकार होते हैं[1]—

चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, चौरकथा)।

चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)।

---

१. विकहा तहा कसाया इन्दियणिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पण मेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस॥
—गोम्मट० जीवकाण्ड ३४

सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाला चाहे उपशमश्रेणि का अथवा क्षपकश्रेणि का आरोहण करने वाला हो; यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है। अर्थात् सूक्ष्म लोभ का उदय होने से यथाख्यात चारित्र के प्रगट होने में कुछ कमी रहती है।

इस गुणस्थान की जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त सम स्थिति है।

(११) **उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान**—जिनके कष उपशान्त हुए हैं, राग का भी सर्वथा उदय नहीं है और जिनको छ (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशान्त कषाय वी राग छद्मस्थ हैं और उनके स्वरूप-विशेष को उपशान्त कषाय वीत छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

शरदृऋतु में होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीय कर्म उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम इस गुणस्थान वाले के होते हैं। आशय यह है कि मोहनीय कर्मों की सत्ता तो है प उदय नहीं होता है।

'उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान' इस नाम में (उपशान्त कषाय, (२) वीतराग, (३) छद्मस्थ—ये तीन विशेष हैं। उनमें से 'छद्मस्थ' यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है। क्योंकि उ अभाव में भी 'उपशान्त कषाय वीतराग गुणस्थान' इतने नाम

१. विशेषण दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूप विशेषण, (२) व्याव विशेषण। स्वरूप विशेषण—जिसके न रहने पर भी शेष भाग से अर्थ का बोध हो जाता है। अर्थात् यह विशेषण अपने विशेष्य के स्व मात्र को जताता है। व्यावर्तक विशेषण—जिसके रहने से ही इष्ट का बोध हो सकता है। उसके अभाव में इष्ट के सिवाय दूसरे अर्थ का बोध होने लगता है।

पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) के विषयों में आसक्ति।

निद्रा और स्नेह।

इस गुणस्थान में देशविरति की अपेक्षा गुणों—विशुद्धि का प्रकर्ष और अप्रमत्तसंयत की अपेक्षा विशुद्धि—गुण का अपकर्ष होता है। इस गुणस्थान में ही चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारक लब्धि का प्रयोग करते हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व से कुछ कम प्रमाण है और यह तथा इससे आगे के गुणस्थान मनुष्यगति के जीवों के ही होते हैं।

(७) **अप्रमत्तसंयत गुणस्थान**—जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों को नहीं सेवते हैं, वे अप्रमत्त संयत हैं और उनका स्वरूप-विशेष जो ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होता है, अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहलाता है। अर्थात् संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय होता है और जिसके व्यक्ता-व्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं और ज्ञान, ध्यान, तप में लीन सकल संयम संयुक्त संयत (मुनि) को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है। इसलिए इस गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं।

छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि सातवें गुणस्थान में थोड़ा-सा भी प्रमाद नहीं होता है, इसलिए व्रतों में अतिचारादिक सम्भव नहीं हैं, किन्तु छठा गुणस्थान प्रमादयुक्त होने से व्रतों में अतिचार लगने की सम्भावना है। ये दोनों गुणस्थान प्रत्येक समय नहीं होते हैं, किन्तु गति-सूचक

ं गुणस्थान का वोध हो जाता है और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे
वोध नहीं होता है। अतः 'छद्मस्थ' यह विशेषण अपने
के स्वरूप का बोध कराने वाला है।

पशान्त कषाय' और 'वीतराग' ये दो व्यावर्तक विशेषण हैं।
नों के रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है और इनके
पर इष्ट अर्थ का बोध न होकर अन्य अर्थ का भी बोध हो
है। जैसे 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतराग
थ गुणस्थान' इतने नाम से इष्ट अर्थ (ग्यारहवें गुणस्थान) के
वारहवें गुणस्थान का भी वोध होने लगता है। क्योंकि वारहवें
ान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण आदि घातिकर्म) तथा
ागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु उपशान्त
इस विशेषण से वारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता।
क वारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते हैं,
ु क्षय हो जाते हैं। इसी तरह 'वीतराग' इस विशेषण के अभाव
पशान्त कषाय छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से चतुर्थ, पंचम आदि
थानों में भी जीव के अनन्तानुवन्धी कषाय उपशान्त हो सकने के
ण चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है।
ु वीतराग इस विशेषण के रहने से चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों
बोध नहीं हो सकता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में वर्तमान जीव
राग (माया तथा लोभ) के उदय का सद्भाव ही होता है, अतएव
रागत्व असम्भव है।

इस गुणस्थान में विद्यमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त
ने में समर्थ नहीं होता है; क्योंकि आगे के गुणस्थान वही पा
ता है, जो क्षपक श्रेणी को करता है और क्षपक श्रेणी के विना
की प्राप्ति नहीं होती है। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तो

नियम से उपशम श्रेणी को करने वाला ही होता है। अतएव वह ज
ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है।

यदि गुणस्थान का समय पूरा न होने पर जो जीव भव (आ
के क्षय से गिरता है तो वह अनुत्तर विमान में देव रूप से उत
होता है और उस समय उस स्थान पर पांचवाँ आदि-आदि अन्य गु
स्थान संभव न होने से चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है औ
चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुणस्थान में उन स
प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है, जितनी कर्म
प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा की संभावना उस गुणस्थान में है
परन्तु जब आयु के शेष रहते हुए गुणस्थान का समय पूरा हो जा
पर जो जीव गिरता है, वह पतन के समय आरोहण क्रम के अनुसा
गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस-उस गुणस्थान के योग्य कर्म
प्रकृत्तियों का बंध, उदय, उदीरणा करना प्रारम्भ कर देता है, अर्था
आरोहण के समय आरोहण क्रम के अनुसार जिस-जिस गुणस्थान व
पाकर जिन-जिन कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा का विच्छे
करता है, उसी प्रकार पतन के समय भी उस-उस गुणस्थान को पाक
वह जीव उन-उन कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय, उदीरणा को प्रारम
कर देता है और गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरने वा
कोई जीव छठे गुणस्थान को, कोई पांचवें गुणस्थान को, कोई चौ
गुणस्थान को और कोई दूसरे गुणस्थान में होकर पहले तक आ
जाता है।

उपशम श्रेणि[1] के प्रारम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

---

१. कर्मग्रन्थ कर्ता के अभिप्रायानुसार एक जन्म में दो से अधिक बार उ
श्रेणी नहीं की जा सकती है और क्षपक श्रेणी एक ही बार होती है। जि
एक बार उपशम श्रेणी की है, वह उस जन्म में क्षपक श्रेणी कर

जितने समय का शैलेशीकरण[1] करने के द्वारा चारों अघाती कर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु) का सर्वथा क्षय कर देते हैं और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते हैं।

जिस प्रकार मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने पर अपने स्वभावानुसार जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है और जल की ऊपरी सतह पर स्थिर हो जाता है। उसी प्रकार कर्म-मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा भी ऊर्ध्वगति करने का स्वभाव होने से ऊपर लोक के अग्रभाग तक गति करके वहां स्थित हो जाती है।

शुद्ध आत्मा के लोक के अग्रभाग में स्थिरता होने और उसकी ऊर्ध्व-गति लोक[2] के अन्त से आगे न होने का कारण यह है कि उसके अनन्तर गति के कारण धर्मास्तिकाय का अभाव है। इसलिए मुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक ही गति करते हैं।

---

१. शैलेशो मेरुः तस्येयम् स्थिरतावस्था साम्यात् शैलेशी। यद्वा, सर्व-संवरशीलेश आत्मा तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्यां करणं वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मत्रयस्यासंख्येय गुणया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम्। मेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध अवस्था को शैलेशी कहते हैं। उस अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनों कर्मों की असंख्यात गुण-श्रेणी से और आयु कर्म की यथास्थिति से निर्जरा करना शैलेशीकरण कहलाता है।

२. आकाश के जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म आदि षड्द्रव्यों की स्थिति है उसे लोक और जहाँ आकाश के सिवाय जीवादि द्रव्यों की स्थिति नहीं है, उसे अलोक कहते हैं। यही विभिन्नता लोक और अलोक के स्वरूप का भेद कराने में कारण है। इसीलिए धर्मास्तिकाय लोक में विद्यमान है,

चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान ां वर्तमान जीव पहले अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चारों कषायों का उपामन करता है। अनन्तर अन्तर्मुहूर्त में दर्शन मोहनीय त्रिक (सम्यक्त्व, म्यक्त्व-मिथ्यात्व, मिथ्यात्व) का एक साथ उपशम करता है। इसके वाद वह जीव छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक वार आता-जाता रहता है। वाद में आठवें गुणस्थान में होकर नौवें गुणस्थान को प्राप्त करके वहाँ चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम प्रारम्भ करता है, जो इस प्रकार है—सबसे पहले नपुंसक वेद और उसके बाद क्रमश: स्त्री वेद, हास्यादि षट्क (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा), पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध युगल, संज्वलनक्रोध, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मानयुगल, संज्वलन मान, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मायायुगल, संज्वलन माया, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभयुगल को तथा दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ को उपशान्त करता है।

ग्यारहवें गुणस्थान की काल मर्यादा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।[१]

(१२) **क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान**—मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिक मणि के निर्मल पात्र में रखे

प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो दो वार उपशम श्रेणी कर चुका है, वह उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता है। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जीव एक जन्म में एक वार ही श्रेणी कर सकता है। इसलिए जिसने एक वार उपशम श्रेणी की है, वह पुनः उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता है।

ये लोक के अग्रभाग में विराजमान परमात्मा सिद्ध भगवन्त ज्ञाना वरणादि द्रव्य और भाव कर्मों से रहित, अनन्त सुख रूपी अमृत र अनुभव कराने वाली शांति सहित, नवीन कर्मबंध के कारणभू. मिथ्यादर्शन आदि मैल से रहित, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों सहित, नित्य और कृत-कृत्य (जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है) हैं।

कर्मबंध के कारण जीव जन्ममरण रूप संसार में परिभ्रमण करता है। कर्मबंध और उसके हेतुओं के अभाव एवं निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है और कर्मबंध का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है। संसारी जीवों के नवीन कर्मों का बंध और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होते रहने का क्रम चलता रहता है। जिससे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो पाती है। लेकिन कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ कर्मबंध एवं उसके हेतुओं का भी अभाव होते जाने से जीव आत्मोपलब्धि की ओर बढ़ते हुए अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि रूप आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

कर्मों की निर्जरा सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रारम्भ होकर सर्वज्ञ अवस्था में पूर्ण होती है। इसमें क्रमशः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर परिणामों में विशुद्धि सविशेष बढ़ती जाती है। परिणामों में विशुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी ही कर्मनिर्जरा भी विशेष होगी। अर्थात् पूर्व- पूर्व की अवस्थाओं में जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा आगे-आगे की अवस्थाओं में परिणामों की विशुद्धि अधिक-अधिक होने से कर्मनिर्जरा असंख्यात गुणी बढ़ती जाती है और इस प्रकार बढ़ते-

---

उसके बाहर विद्यमान नहीं है। यदि लोक के बाहर धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की स्थिति मानी जाये तो लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद समाप्त हो जायेगा।

हुए जल के समान निर्मल होते हैं। क्योंकि यहाँ मोहनीय कर्म सर्वथ
क्षय हो जाते हैं। सत्ता भी नहीं रहती है।

जो मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु शे
छद्‌म (घातिकर्म का आवरण) अभी विद्यमान हैं, उनको क्षी
कषाय वीतराग छद्‌मस्थ कहते हैं और उनके स्वरूप विशेष को क्षी
कषाय वीतराग छद्‌मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

इस बारहवें गुणस्थान के नाम में—(१) क्षीण कषाय, (
वीतराग और (३) छद्‌मस्थ—ये तीनों व्यावर्तक विशेषण
क्योंकि 'क्षीणकषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतराग छद्‌मस
इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के सिवाय ग्यारहवें गुणस्थान का
बोध होता है और क्षीणकषाय इस विशेषण को जोड़ लेने से बार
गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में कष
क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं। 'वीतराग' इस विशे-
षण से रहित क्षीण कषाय छद्‌मस्थ गुणस्थान इतने नाम से
बारहवें गुणस्थान के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थान का भी बोधक हो
जाता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबंधी आदि कषायों
का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने से उन
चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध नहीं होता है। क्योंकि किसी-न
किसी अंश में राग का उदय उन गुणस्थानों में रहता है। जिससे
वीतरागत्व असंभव है। इसी प्रकार 'छद्‌मस्थ' इस विशेषण के न
रहने से भी क्षीणकषाय वीतराग इतना नाम बारहवें गुणस्थान के
अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता
है। परन्तु छद्‌मस्थ इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का
ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में
विद्यमान जीव के छद्‌म (घातिकर्म का आवरण) नहीं होता है।

ढ़ते अन्त में सर्वज्ञ अवस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो
ाता है।

कर्मनिर्जरा के प्रस्तुत तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्-
ष्टि की और सबसे अधिक सर्वज्ञ की होती है। कर्मनिर्जरा
 वढ़ते क्रम की अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधीवियोजक, दर्शनमोह-
क्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन
अनुक्रम से असंख्येय गुण निर्जरा वाले होते हैं।[1] लेकिन पूर्व-पूर्व की
अपेक्षा उत्तरोत्तर समय कम लगता है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि के कर्म-
निर्जरा में जितना समय लगता है, उसकी अपेक्षा श्रावक को कर्म-
निर्जरा में संख्यातगुण कम काल लगता है। इसी प्रकार विरत आदि
में आगे-आगे के लिए समझना चाहिए।

उक्त चौदह गुणस्थानों में से १, ४, ५, ६, १३, ये पांच गुणस्थान
लोक में शाश्वत हैं, अर्थात् सदा रहते हैं, और शेष नौ गुणस्थान
अशाश्वत हैं। परभव में जाते समय जीव के पहला, दूसरा और चौथा
ये तीन गुणस्थान रहते हैं। ३, १२, १३ ये तीन गुणस्थान अमर हैं,

---

१. (क) सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह-
क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।

—तत्त्वार्थसूत्र ९-४७

(ख) सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति॥

—गो० जीवकाण्ड ६६-६७

हुए जल के समान निर्मल होते हैं। क्योंकि यहाँ मोहनीय कर्म सर्वथ
क्षय हो जाते हैं। सत्ता भी नहीं रहती है।

जो मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु शेष
छद्म (घातिकर्म का आवरण) अभी विद्यमान हैं, उनको क्षीण
कषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं और उनके स्वरूप विशेष को क्षीण
कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

इस बारहवें गुणस्थान के नाम में—(१) क्षीण कषाय, (
वीतराग और (३) छद्मस्थ—ये तीनों व्यावर्तक विशेषण
क्योंकि 'क्षीणकषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतराग छद्म
इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के सिवाय ग्यारहवें गुणस्थान का
बोध होता है और क्षीणकषाय इस विशेषण को जोड़ लेने से बा
गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में क
क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं। 'वीतराग' इस
षण से रहित क्षीण कषाय छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम
बारहवें गुणस्थान के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थान का भी बोध
जाता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबंधी आदि क
का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने
चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध नहीं होता है। क्योंकि कि
किसी अंश में राग का उदय उन गुणस्थानों में रहता है।
वीतरागत्व असंभव है। इसी प्रकार 'छद्मस्थ' इस विशेषण
रहने से भी क्षीणकषाय वीतराग इतना नाम बारहवें गुणस्
अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो
है। परन्तु छद्मस्थ इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्
ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्
विद्यमान जीव के छद्म (घातिकर्म का आवरण) नहीं होता

अर्थात् इनमें जीव का मरण नहीं होता है। १, २, ३, ५, और ११
पाँच गुणस्थान तीर्थंकर नहीं फरसते हैं। ४, ५, ६, ७, ८ इन पाँ
गुणस्थानों में ही जीव तीर्थंकर गोत्र बांधता है। १२, १३ और
ये तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं, अर्थात् आने के बाद नहीं जाते हैं
१, ४, ७, ८, ९, १०, १२, १३, १४ इन नौ गुणस्थानों को मोक्ष जा
से पहले जीव एक या अनेक भवों में अवश्य फरसता है।[1]

इस प्रकार गुणस्थानों का स्वरूप कहा गया। विशेष विस्त
से समझने के लिए अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करना चाहिए। अब अ
की गाथाओं में प्रत्येक गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों के बंध, उद
उदीरणा, सत्ता की स्थिति का वर्णन किया जायेगा।

मंगलाचरण में किये गये संकेतानुसार सर्वप्रथम बन्ध
लक्षण और प्रत्येक गुणस्थान में बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियों का व
करते हैं।

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस-सयं।
तित्थयराहारग-दुगवज्जं मिच्छंमि सतर-सयं ॥३

गाथार्थ—नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्यतः अर्थात् किसी खास गुणस्थान अथवा किसी जीवविशेष की विवक्षा किये बिना १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। उनमें से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध होता है।

विशेषार्थ—अभिनव—नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते है

---

१. प्रवचन० द्वार-२२४, गा० १३०२। प्रवचन० द्वार ८९-९०, गाथा ६९
७०८ तथा चौदह गुणस्थान का थोकड़ा।

वासी देव भगवान से शब्द द्वारा न पूछकर मन द्वारा प्रश्न आदि पूछता है, तब केवलज्ञानी उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्नकर्ता मनःपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली भगवान द्वारा उत्तर देने के लिए संगठित किये गए मनोद्रव्यों को अपने मनःपर्यायज्ञान अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है और देखकर मनोद्रव्यों की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। उपदेश देने के लिए केवली भगवान वचन-योग का तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं।

सयोगीकेवली में यदि कोई तीर्थंकर हों तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं और देशना देकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक का है।

(१४) **अयोगिकेवली गुणस्थान**—जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, वे अयोगिकेवली कहलाते हैं, अर्थात् जब सयोगिकेवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योग रहित होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अयोगिकेवली कहलाते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को अयोगिकेवली गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, अर्थात् मोक्ष का प्रवेशद्वार है। तीनों योगों का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगी अवस्था में अपनी आयु के अनुसार रहते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान के चार अघाती कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं (प्रदेशों) की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति और

जिस आकाश क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में रहने वाले कर्म-रूप से परिणत होने की योग्यता रखने वाले पुद्‌गल स्कन्धों की वर्गणाओं को कर्मरूप से परिणत कर जीव द्वारा उनका ग्रहण होना अभिनव—नवीन कर्मग्रहण कहते हैं और इस नवीन कर्मग्रहण का नाम बन्ध है।

किन्तु बन्ध हो जाने के बाद के सम्बन्ध को बन्ध नहीं कहा जाता है। क्योंकि उसका सत्ता[1] में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म जब परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं, तब उस स्वभावान्तर प्राप्ति को संक्रमण समझना चाहिए, बन्ध नहीं। इसी अभिप्राय से कर्मग्रहण मात्र को बन्ध न कहकर गाथा में अभिनव कर्मग्रहण को बन्ध का लक्षण बताया गया है। अर्थात् बन्ध के लक्षण में दिये गये अभिनव विशेषण का यह आशय है कि नवीन कर्मों के बँधने को बन्ध कहते हैं। किंतु सत्ता रूप में पहले से विद्यमान और स्वभावान्तर में संक्रमित कर्मों को बन्ध नहीं कहते हैं।

जीव के ज्ञान-दर्शनादि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यही कर्मपुद्‌गलों का कर्मरूप बनना कहलाता है। कर्मयोग्य पुद्‌गलों का कर्मरूप से परिणमन मिथ्यात्वादि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये जीव के वैभाविक (विकृत) स्वरूप हैं, और इससे वे कर्मपुद्‌गलों के कर्मरूप बनने में निमित्त होते हैं।

मिथ्यात्वादि जिन वैभाविक स्वरूपों से कर्मपुद्‌गल कर्मरूप हो जाते हैं, उन वैभाविक स्वरूपों को भावकर्म और कर्मरूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्‌गलों को द्रव्यकर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पराश्रय सम्बन्ध

---

1. सत्ता कम्माणठिई बंधाइ लद्ध अत्तलाभाणं।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का क्षय होने से शेष बचा हुआ भाग क्षय करता है और नौवें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्यादिषट्क, पुरुष वेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय करता है। अन्त में दसवें गुणस्थान में संज्वलन ल का भी क्षय कर देता है। इस प्रकार संपूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय पर बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

बारहवें गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट काल स्थिति अन्तर्मु प्रमाण है और इस गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले होते हैं।

(१३) **सयोगिकेवली गुणस्थान**—जो चार घाति कर्मों (ज्ञानावर दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय करके केवल ज्ञान अं दर्शन प्राप्त कर चुके हैं, जो पदार्थ के जानने-देखने में इन्द्रिय, आलो आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं और योग (आत्म वीर्य, शक्ति, उत्सा पराक्रम) से सहित हैं, उन्हें सयोगिकेवली कहते हैं और उनके स्वरू विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहते हैं। सयोगिकेवली को घाति कर्म से रहित होने के कारण जिन, जिनेन्द्र, जिनेश्वर भी कह जाता है।[1]

मन, वचन और काय इन तीन साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है। अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते हैं—

(१) मनोयोग, (२) वचनयोग, (३) काययोग। केवली भगवान को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तरविमान

---

१. असहाय णाणदंसण सहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिह णारिसे उत्तो॥
—गोम्मट० जीवकाण्ड ६४

है। पहले ग्रहण किए हुए द्रव्य कर्मों के अनुसार भावकर्म और भाव-कर्म के अनुसार फिर नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध, ऐसी कार्य-कारण भाव की अनादि परम्परा चली आ रही है।

किसी खास गुणस्थान और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना बंधयोग्य कर्म प्रकृतियाँ १२० मानी जाती हैं। इसीलिए १२० कर्मप्रकृतियों के बन्ध को सामान्य बन्ध या ओघ बन्ध कहते हैं।

यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्मपुद्गलों को १२० रूप में परिणमित नहीं कर सकता है। अर्थात् १२० कर्मप्रकृतियों को नहीं बांध सकता है। परन्तु अनेक जीव एक समय में १२० कर्म प्रकृतियों को बांध सकते हैं। इसी तरह एक जीव भी जुदी-जुदी अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् समय सब मिलाकर १२० कर्मप्रकृतियों को बाँध सकता है। क्योंकि जीव के मिथ्यात्वादि परिणामों के अनुसार कर्मपुद्गल १२० प्रकार में परिणत हो सकते हैं। इसीसे १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

बंधयोग्य १२० कर्मप्रकृतियों के मूल कर्मों के नाम और उनकी उत्तरप्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण के ५ भेद
(२) दर्शनावरण के ९ भेद
(३) वेदनीय के २ भेद
(४) मोहनीय के २६ भेद
(५) आयु के ४ भेद
(६) नाम के ६७ भेद
(७) गोत्र के २ भेद
(८) अन्तराय के ५ भेद

वासी देव भगवान से शब्द द्वारा न पूछकर मन द्वारा प्रश्न आदि पूछता है, तब केवलज्ञानी उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्नकर्ता मनःपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली भगवान द्वारा उत्तर देने के लिए संगठित किये गए मनोद्रव्यों को अपने मनःपर्यायज्ञान अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है और देखकर मनोद्रव्यों की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। उपदेश देने के लिए केवली भगवान वचन-योग का तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं।

सयोगीकेवली में यदि कोई तीर्थंकर हों तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं और देशना देकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक का है।

(१४) **अयोगिकेवली गुणस्थान**—जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, वे अयोगिकेवली कहलाते हैं, अर्थात् जब सयोगिकेवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योग रहित होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अयोगिकेवली कहलाते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को अयोगिकेवली गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, अर्थात् मोक्ष का प्रवेशद्वार है। तीनों योगों का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगी अवस्था में अपनी आयु के अनुसार रहते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान के चार अघाती कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं (प्रदेशों) की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति और

इन सब ज्ञानावरणादि कर्मों के क्रमशः ५+९+२+२६+४+६७+२+५ भेदों के मिलने से १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई हैं।[1]

यद्यपि नाम कर्म की विस्तार से ९३ या १०३ प्रकृतियाँ होती हैं। लेकिन यहाँ बन्धयोग्य प्रकृतियों में ६७ प्रकृतियाँ बताने का कारण यह है कि शरीर नामकर्म में बन्धन और संघातन ये दोनों अविनाभावी हैं। अर्थात् शरीर के बिना ये दोनों हो नहीं सकते है। अतः बन्ध या उदयावस्था में बन्धन और संघातन नामकर्म शरीर नामकर्म से जुदे नहीं गिने जाते और शरीर नाम प्रकृति में समाविष्ट हो जाने

---

१. पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ ॥

—गो० कर्मकाण्ड ३५

अभेदविवक्षा से उक्त १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। लेकिन भेदविवक्षा (भेद से कहने की इच्छा) से १४६ कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य होंगी। क्योंकि दर्शनमोह की सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व—इन तीन भेदों में से मूल मिथ्यात्व प्रकृति ही बंधयोग्य मानी जाती है। इसका कारण यह है कि बँधी हुई मिथ्यात्व प्रकृति को ही जीव अपने परिणामों द्वारा अशुद्ध, अर्धशुद्ध और विशुद्ध—इन तीन भागों में विभाजित करता है। जिससे मिथ्यात्व के ही तीन भेद हो जाते हैं। उनमें से विशुद्ध कर्म पुद्गलों को सम्यक्त्वमोहनीय और अर्धशुद्ध कर्म पुद्गलों को सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। इसलिए मोहनीय कर्म के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों को बन्धयोग्य प्रकृतियों में ग्रहण न करने से १४६ प्रकृतियाँ भेद विवक्षा से बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

प्रथम कर्मग्रन्थ में सामान्य से बन्ध, उदय आदि योग्य आठों व प्रकृतियों के नाम बताये हैं। अतः यहाँ पुनः नाम नहीं दिये गये

पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं, वे समुद्घात[1] करते हैं और इसके द्वारा वे आयुकर्म की स्थिति एवं पुद्गल परमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं को कर लेते हैं।

---

१. केवली भगवान द्वारा यह समुद्घात होने से केवलीसमुदघात कहलाता है।

इस समुद्घात में आठ समय लगते हैं। पहले समय में केवली के आत्मप्रदेश दण्ड के आकार बनते हैं। यह दण्ड मोटा तो अपने शरीर जितना एवं लम्बा लोकपर्यन्त चौदह रज्जू का होता है। दूसरे समय में वह दण्ड पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण लोक पर्यन्त फैलकर कपाट का रूप लेता है। तीसरे समय में वह कपाट उत्तर-दक्षिण या पूर्व-पश्चिम में फैलकर मथानी के तुल्य बनता है। ऐसा होने से लोक का अधिक भाग केवली के आत्मप्रदेशों से व्याप्त हो जाता है, फिर भी मथानी की आकृति होने से आकाश के कुछ अन्तराल प्रदेश खाली रह जाते हैं, अतः चौथे समय में प्रतर स्थिति द्वारा उन खाली रखे हुए सब आकाश प्रदेशों पर केवली के आत्मप्रदेश पहुँच जाते हैं। उस समय प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेशों पर केवली के आत्मप्रदेश होते हैं एवं उनकी आत्मा समस्त लोक में व्याप्त हो जाती है, क्योंकि एक जीव के असंख्य प्रदेश और लोकाकाश के असंख्य प्रदेश बराबर हैं।

इस क्रिया के बाद वापस आत्मप्रदेशों का संकोच होने लगता है। जैसे पाँचवें समय में अन्तराल प्रदेश खाली होकर पुनः मथानी बन जाती है, छठे समय कपाट बन जाता है, सातवें समय दण्ड बन जाता है। एवं आठवें समय में केवली आत्मा अपने मूल रूप में आ जाती है।

यह समुद्घात की क्रिया स्वाभाविक होती है। इसमें काल आठ समय मात्र जितना लगता है। इस समुद्घात की क्रिया से आयुष्य कर्म की स्थिति से अधिक स्थिति वाले अघाती कर्मों की निर्जरा हो जाती है। फिर वे केवली अन्तर्मुहूर्त के अन्दर मोक्ष चले जाते हैं।

से तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार भेदों में ही अभेद विवक्ष से इनके बीस भेद शामिल होने से बंध और उदय अवस्था में चार भेद लिये जाने पर नाम कर्म के ६७ भेद बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या में गिनाये गये हैं।[1]

सामान्य से बंधयोग्य पूर्वोक्त १२० कर्म प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग—इन तीन कर्म प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों के बंध नहीं होता है। अर्थात् ये तीन कर्म प्रकृतियाँ मिथ्यात्व गुणस्थान में अबन्धयोग्य[2] हैं। इसका कारण यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व से और आहारकद्विक का बंध अप्रमत्त संयम से होता है।[3] परन्तु मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व का ही होना संभव है और न अप्रमत्त संयम का होना संभव है। क्योंकि चौथे गुणस्थान—अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—से पहले सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता और सातवें गुणस्थान—अप्रमत्त संयत गुणस्थान—से पहले अप्रमत्त संयम भी नहीं होता है। अतः उक्त तीन प्रकृतियों के विना शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, बंध के कारणों के विद्यमान रहने से मिथ्यात्व गुणस्थान-

---

१. देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये॥

—गो० कर्मकाण्ड ३४

२. अबन्ध—उस गुणस्थान में वह कर्म न बंधे, किन्तु आगे के गुणस्थान में उस कर्म का बन्ध हो, उसे अबन्ध कहते हैं।

३. सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु।

—गो० कर्मकाण्ड ९२

यद्यपि मोहनीय आदि चार घातीकर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो
ाने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होते हैं, फिर भी उस समय
दनीय आदि चार अघाती कर्म शेष रहते हैं, जिससे मोक्ष नहीं होता
है। अतः इन शेष रहे हुए कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। जव इन
कर्मों का भी क्षय होता है, तभी सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होकर जन्म-
मरण का चक्कर बन्द पड़ जाता है और यही मोक्ष है। लेकिन अघाती
कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति कम हो और शेष तीन—वेदनीय.
नाम और गोत्र—अघाति कर्मों की स्थिति आदि अधिक हो तो उनका
आयुकर्म के साथ ही क्षय होना संभव नहीं होता है। इसलिए आयु-
र्म की स्थिति आदि के साथ ही उन कर्मों की स्थिति आदि के क्षय
रने के लिए केवली भगवान द्वारा समुद्घात किया जाना अपरिहार्य
होता है।

परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि तीनों अघाती कर्म
स्थिति और पुद्गल परमाणुओं में आयु कर्म के वरावर हैं, उनको
समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं है। अतएवं वे समुद्घात नहीं
करते हैं।

सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में परम निर्जरा के
कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिए
योगों का निरोध करते हैं। जिनके निरोध का क्रम इस प्रकार है—

इस समुद्घात की क्रिया में मन, वचन के योगों की प्रवृत्ति नहीं
होती, केवल काययोग होता है। उसमें भी पहले-आठवें समय में औदारिक
काययोग, दूसरे, छठे, सातवें समय में औदारिक मिश्र काययोग एवं
तीसरे, चौथे, पांचवें समय कार्मण काययोग होता है। केवली समुद्घात
सामान्य केवलियों के ही होता है लेकिन तीर्थंकरों के नहीं होता है।

वर्ती जीव यथासम्भव कर सकते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधयोग प्रकृतियाँ ११७ और अबंध योग्य ३ प्रकृतियाँ हैं।

अब आगे की गाथा में मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधविच्छेद[1] योग्य कर्म प्रकृतियों की संख्या और नाम एवं दूसरे गुणस्थान में बंध प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।
सोलंतो इगहियसउ, सासंणि तिरिथीणदुहगतिगं॥३॥

गाथार्थ—नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुंड-संस्थान, आतपनाम, सेवार्त संहनन, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व मोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में बंधविच्छेद होने से सासादन गुणस्थान में १०१ कर्मप्रकृतियां बंधयोग्य हैं। उक्त १०१ प्रकृतियों में से तिर्यंचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक और दुर्भगत्रिक और इनके सिवाय अन्य १६ प्रकृतियों का बंधविच्छेद सासादन गुणस्थान के अंत में होता है। जिनके नाम आगे की गाथा में गिनाये जाएँगे।

विशेषार्थ—इस गाथा में मुख्य रूप से दूसरे—सासादन गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या और पहले मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्त में बन्धविच्छेद को प्राप्त होने वाली सोलह प्रकृतियों [illegible] बताये गये हैं। इन सोलह प्रकृतियों में से कुछ एक प्रकृतियों [illegible]

---

1. बन्धविच्छेद—आगे के किसी भी गुणस्थान में [illegible] है। छेद, क्षय, अन्त, भेद आदि समानार्थक शब्द हैं।

सर्वप्रथम वादर (स्थूल) काययोग से वादर मनोयोग और वादर वचनयोग को रोकते हैं। अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से वादर काययोग को रोकते हैं । अनन्तर उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं । अन्त में सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति शुक्ल ध्यान[1] के वल से केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार योगों का निरोध हो जाने से सयोगी केवली भगवान् अयोगी बन जाते हैं। साथ ही उसी सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग —मुख, उदर आदि भाग को आत्मा के प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं।

उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित—घने हो जाते हैं कि वे शरीर के दो तिहाई (२।३) हिस्से में ही समा जाते हैं। इसके वाद वे अयोगि केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान[2] को प्राप्त करते हैं और पांच ह्रस्वाक्षर (अ,इ,उ,ऋ,लृ) के उच्चारण करने

---

१. जव सर्वज्ञ भगवान् योग निरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म काययोग के आश्रय से दूसरे वाकी के योगों को रोक देते हैं, तव वह सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान कहलाता है। क्योंकि उसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्म क्रिया ही वाकी रह जाती है और उसमें से पतन-परिवर्तन होना भी संभव नहीं है।

२. इस ध्यान में शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएं भी वंद हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकंप हो जाते हैं। क्योंकि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया ही नहीं होती और वह स्थिति वाद में जाती भी नहीं है। इस ध्यान के प्रभाव से सर्व आस्रव और वंध का निरोध होकर सर्व कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है।

नहीं लिखकर नरकत्रिक, जातिचतुष्क आदि संज्ञाओं द्वारा संकेत किया गया है। जिनके द्वारा निम्नलिखित प्रकृतियों को ग्रहण किया गया है—

नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।

जातिचतुष्क—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति।

स्थावर चतुष्क—स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारणनाम।

उक्त नरकत्रिक आदि संज्ञाओं द्वारा बताई गई प्रकृतियों के साथ पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त में बंधविच्छेद होने वाली सोलह प्रकृतियों के नाम ये हैं—

(१) नरकगति, (२) नरकानुपूर्वी,
(३) नरकायु, (४) एकेन्द्रिय जाति,
(५) द्वीन्द्रिय जाति, (६) त्रीन्द्रिय जाति,
(७) चतुरिन्द्रिय जाति, (८) स्थावर नाम,
(९) सूक्ष्म नाम, (१०) अपर्याप्त नाम,
(११) साधारण नाम, (१२) हुंड संस्थान,
(१३) आतप नाम, (१४) सेवार्त संहनन,
(१५) नपुंसक वेद, (१६) मिथ्यात्व मोहनीय।[1]

गुणस्थानों में कर्मवंध के कारणों के वारे में यह समझ लेना चाहिए कि कर्मवंध के जो मिथ्यात्वादि कारण वताये गए हैं, उनमें

---

१. तुलना कीजिए—

मिच्छत्त हुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे॥

—गो० कर्मकाण्ड ९

जिस-जिस गुणस्थान तक जिनका उदय रहता है तो उनके निमित्त से वँधने वाली कर्मप्रकृतियों का बंध भी उस गुणस्थान तक होता रहता है ।

मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधयोग्य ११७ कर्म प्रकृतियाँ हैं । मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय पहले—मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, दूसरे गुणस्थान में नहीं । अतएव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अत्यन्त अशुभ रूप और प्रायः नारक जीवों, एकेन्द्रिय जीवों तथा विकलेन्द्रिय जीवों के योग्य नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्व मोहनीय पर्यन्त गाथा में दिखाई गई सोलह प्रकृतियों का वंध पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक, जव तक मिथ्यात्व मोहनीय का उदय है, हो सकता है, दूसरे गुणस्थान के समय नहीं । इसलिए पहले गुणस्थान में जिन ११७ कर्म प्रकृतियों का वंध माना गया है, उनमें से नरकत्रिक आदि उक्त सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०१ कर्म प्रकृतियों का वंध दूसरे गुणस्थान में होता है ।

सारांश यह है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में वन्धयोग्य ११७ प्रकृतियों में से वन्धव्युच्छिन्न नरकत्रिक आदि मिथ्यात्व मोहनीय पर्यन्त सोलह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे सासादन गुणस्थान में १०१ प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं ।

(१) जो छठे गुणस्थान में देवायु के बंध को प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं और सातवें गुणस्थान में देवायु के बंध को समाप्त करते हैं।

(२) जो देवायु के वंध का प्रारम्भ तथा उसका विच्छेद इन दोनों को छठे गुणस्थान में ही करके अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में से पहले प्रकार के जीव तो छठे गुणस्थान के अंतिम समय में शोक, अरति, अस्थिर नाम, अशुभनाम, अयशःकीर्ति और असातावेदनीय—इन छह प्रकृतियों का विच्छेद करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। अतः इन जीवों की अपेक्षा छठे गुणस्थान की वंधयोग्य ६३ प्रकृतियों में से उक्त अरति, शोक आदि छह प्रकृतियों को कम करने से ५७ प्रकृतियाँ सातवें गुणस्थान में बंधयोग्य होनी चाहिए थीं। लेकिन आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग—इन दो प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान में ही होने से इन दोनों का वंध भी सातवें गुणस्थान में होता है। अतः इन दो प्रकृतियों के साथ ५७ प्रकृतियों को जोड़ने से सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का वंध माना जाता है।

लेकिन छठे गुणस्थान में ही देवायु का वंधविच्छेद करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले दूसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा अरति, शोक आदि छह प्रकृतियों एवं देवायु, कुल ७ प्रकृतियों का वंध-विच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से ६३ प्रकृतियों में से शेष रही ५६ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को मिलाने से सातवें गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का वंध माना जाता है।

उक्त दोनों कथनों का सारांश यह है कि छठे गुणस्थान में देवायु के बंध को प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त

अणमज्झागिइसंघयणचउ, निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउयअबन्धा ॥५॥

गाथार्थ—अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति नाम और स्त्रीवेद इन २५ प्रकृतियों का बंध-विच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्त में होता है तथा आयुद्विक अबंध होने से मिश्र गुणस्थान (सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) में ७४ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है।

विशेषार्थ—दूसरे गुणस्थान में बंधयोग्य १०१ प्रकृतियाँ तथा उसके अन्त समय में व्युच्छिन्न होने वाली २५ प्रकृतियाँ हैं। इन व्युच्छिन्न होने वाली २५ प्रकृतियों के नामों के लिए पूर्व गाथा में 'तिरिथीण दुहगतिगं' पद से तिर्यंचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक और दुर्भगत्रिक इन नौ प्रकृतियों के नाम तथा इस गाथा में अनंतानुबंधी चतुष्क से लेकर स्त्रीवेद पर्यन्त सोलह प्रकृतियों के नाम बताये हैं।

इस प्रकार पूर्व गाथा में बताई गई नौ और इस गाथा में कही गई सोलह प्रकृतियों के नामों को मिलाने से दूसरे गुणस्थान के अंत समय में व्युच्छिन्न होने वाली कुल २५ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

ग्रंथकार ने २५ प्रकृतियों में से नीचगोत्र, उद्योत नाम, अप्रशस्त विहायोगति नाम और स्त्रीवेद, इन चार का तो अलग-अलग नामोल्लेख कर दिया है और बाकी बची हुई २१ प्रकृतियों के नाम निम्नलिखित संज्ञाओं द्वारा बताये हैं—नरकत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक, अनंतानुबंधी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क।

उक्त संज्ञाओं में ग्रहण की जाने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों की अपेक्षा ५९ प्रकृ
और देवायु के बंध का प्रारम्भ और उसका विच्छेद इन दोनों को
गुणस्थान में करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव
अपेक्षा ५८ प्रकृतियाँ सातवें गुणस्थान में बंधयोग्य मानी जाती हैं

सातवें गुणस्थान में देवायु के बंध की गणना का आशय
कि देवायु को प्रमत्त ही बाँधता है, किन्तु अति विशुद्ध और
परिणाम वाला होने से अप्रमत्त जीव नहीं बाँधता है। इसलिए
जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु का बंध किया और उसी में
विच्छेद न करके अपने विशुद्ध परिणामों के कारण सातवें गुण
में आ गया और इस गुणस्थान में देवायु का विच्छेद किया
अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में देवायु का बंध कहा जाता है और
योग्य ५९ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। लेकिन सातवें गुणस्थान में
के बंध का प्रारम्भ होना नहीं माना जाता है।

सातवें गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों का कथन करने
आठवें अपूर्वकारण, नौवें अनिवृत्तिकरण और दसवें सूक्ष्मस
गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या और उनके नाम
गाथाओं द्वारा बतलाते हैं।

अडवन्न अपुव्वाइमि निद्दुगंतो छपन्न पणभागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा।

समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबंधो हासरईकुच्छभयभेओ ॥

अनियट्टि भागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबन्धो।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥

तिर्यंचत्रिक—तिर्यंचगति, तिर्यंच-आनुपूर्वी, तिर्यंच-आयु।

स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

दुर्भगत्रिक—दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम।

अनंतानुबंधीचतुष्क—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ।

मध्यमसंस्थानचतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, ामन संस्थान, कुब्ज संस्थान।

मध्यमसंहननचतुष्क—ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, र्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन।

पूर्वोक्त तिर्यंचत्रिक से लेकर स्त्रीवेद पर्यंत २५ कर्मप्रकृतियों का विच्छेद दूसरे गुणस्थान के अंत में हो जाता है। अर्थात् आगे तीसरे-चौथे आदि गुणस्थानों में इनका बंध नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि तिर्यंचत्रिक आदि २५ प्रकृतियों का बंध अनंतानुबंधी कषाय के उदय से होता है और अनंतानुबंधी कषाय का उदय सिर्फ पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही रहता है, तीसरे आदि आगे के गुणस्थानों में नहीं। इसलिए दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों में से तिर्यंचत्रिक आदि २५ प्रकृतियों को कम करने से तीसरे गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ बंधयोग्य मानी जानी चाहिए थीं।

किन्तु तीसरे—मिश्रगुणस्थानवर्ती (सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान-वर्ती) जीव का स्वभाव ऐसा होता है कि उस समय उसका मरण नहीं होता है और न परभव सम्बन्धी आयु का वन्ध करता है।[1] क्योंकि मिश्र गुणस्थान और मिश्र काययोग की स्थिति में आयु कर्म का वन्ध नहीं हो सकता है। इसलिए आयु कर्म के चार भेदों में से नरकायु का वन्ध पहले गुणस्थान तक और तिर्यंच आयु का वन्ध दूसरे गुणस्थ

---

१. सम्मामिच्छादिट्ठी आउयवंधं पि न करेइ त्ति। —इति अ

गाथार्थ—अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारम्भ में अट्ठावन और निद्राद्विक का अन्त करने से पाँच भागों में छप्पन तथा छठे भाग में सुरद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रसनवक, औदारिक शरीर के सिवाय शेष शरीर और अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, निर्माण, जिन नाम, वर्ण चतुष्क और अगुरुलघु चतुष्क इन तीस प्रकृतियों का अन्त करने से अन्तिम भाग में छब्बीस प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा हास्य, रति, जुगुप्सा और भय का अन्त करने अनिवृत्तिगुणस्थान में बाईस प्रकृतियों का बंध होता है। अनन्तर पुरुषवेद और संज्वलन कषाय चतुष्क में से क्रमशः एक के बाद एक कम करने, छेद होने से सूक्ष्म संपराय में सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में आठवें अपूर्वकरण, नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय और दसवें सूक्ष्मसंपराय इन तीन गुणस्थानों की बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या और उनके नाम बताये गये हैं। उनमें से सर्वप्रथम आठवें गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम, बन्धविच्छेद और उनके कारण आदि को समझाते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता है। यद्यपि सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों के बंध का आंशिक पक्ष कहा गया है उसमें देवायु की भी गणना की गई है। इसके लिए यह समझना चाहिए कि छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुए देवायु के [illegible] सातवें गुणस्थान में समाप्ति होती है। अतः उसी अपेक्षा से [illegible] गुणस्थान की बन्धयोग्य ५९ प्रकृतियों में देवायु की [illegible] किन्तु सातवें गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ नहीं [illegible]

होने से तथा 'दुआउ अबन्धा' बाकी की मनुष्यायु और देवायु इन दो आयु का तीसरे गुणस्थान में बन्ध न होने से नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यायु एवं देवायु, आयु कर्म के इन दो भेदों सहित कुल २७ प्रकृतियों को सासादन गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से कम करने पर शेष ७४ कर्म प्रकृतियां तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं।

सारांश यह है कि दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य जो १०१ प्रकृतियां हैं, उनमें से तिर्यंचगति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति नाम और स्त्रीवेद ये २५ प्रकृतियां[1] अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से बँधती हैं और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। इसलिए दूसरे गुणस्थान में उक्त २५ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है।

अतएव दूसरे गुणस्थान के अन्त में उक्त २५ प्रकृतियों का विच्छेद होने से तीसरे गुणस्थान में बंधयोग्य ७६ प्रकृतियाँ होनी चाहिए, किन्तु मिश्रगुणस्थान में आयुकर्म के बन्ध न होने का सिद्धान्त होने से देवायु और मनुष्यायु इन दो को भी ७६ प्रकृतियों में से घटा देने पर शेष ७४ कर्म प्रकृतियां तीसरे गुणस्थान में बंधयोग्य रहती हैं।

१. तुलना कीजिए—

विदियगुणे अणथीणतिदुभगतिसंठाण संहदि चउक्कं।
दुग्गमणित्थीणीचं तिरियदुगुज्जोवतिरियाऊ॥

—गो० कर्मकाण्ड ९६

आठवें आदि गुणस्थानों में तो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ भी नहीं होता और समाप्ति भी नहीं होती है। अतएव देवायु को छोड़कर शेष ५८ प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के सात भाग होते हैं। इन भागों में से पहले भाग में तो ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है और पहले भाग के अन्तिम समय में निद्राद्विक–निद्रा और प्रचला—इन दो प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से आगे दूसरे से लेकर छठे भाग तक पाँच भागों में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इन ५६ प्रकृतियों में से छठे भाग के अन्त में निम्नलिखित ३० प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है—

सुरद्विक—देवगति, देव-आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रसनवक–त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय—, वैक्रिय शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम कार्मण शरीर नाम, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, निर्माण नाम, तीर्थङ्कर नाम, वर्णचतुष्क–वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नाम—अगुरुलघु चतुष्क— अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम और उच्छ्वास नाम।[1]

---

१. तुलना करो—

मरणूणम्हि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं मग्गमणपंचिंदी ॥
तेज दुहारदुसमचउसुरवण्णागुरुचउक्कतसणवयं।

—गो० कर्मकाण्ड ९९, १००

अब आगे की गाथा में क्रमप्राप्त चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि, पाँचवें देशविरत और छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और इनके नाम बतलाते हैं।

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग बियकसाया।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअ कसायंतो ॥६॥

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में जिन—तीर्थङ्कर नामकर्म और दो आयु का बन्ध होने से ७७ प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और औदारिक द्विक के बन्धविच्छेद होने से देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में सड़सठ प्रकृतियों का बन्ध होता है और तीसरी कषाय—प्रत्याख्यानावरणकषाय चतुष्क का विच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्त में होने से तिरेसठ प्रकृतियाँ छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं। (छठे गुणस्थान का नाम और बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या बताने के लिए आगे की गाथा से 'तेवट्ठिपमत्ते' पद लेना चाहिए।)

विशेषार्थ—गाथा में चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और उन-उन गुणस्थानों में बन्धविच्छेद होने वाली प्रकृतियों के नामों का संकेत किया गया है।

सर्वप्रथम चौथे गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि बतलाते हैं।

तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य ७४ प्रकृतियाँ हैं, और इस गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बन्धविच्छेद नहीं होता है। अतः चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होनी

ये नाम कर्म की ३० प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही बाँधी जाती हैं, आगे नहीं। अतः पूर्वोक्त ५६ प्रकृतियों में से इन ३० प्रकृतियों को घटा देने से शेष २६ प्रकृतियों का ही बंध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है।

आठवें गुणस्थान के अन्तिम भाग, अर्थात् सातवें भाग में बंधयोग्य शेष रही हुई २६ प्रकृतियों में से उसके अन्तिम समय में हास्य, रति, जुगुप्सा और भय[1]—नोकषाय मोहनीय कर्म की इन चार प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने से नौवें आदि आगे के गुणस्थानों में बंध नहीं होता है। अर्थात् आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में ५८ प्रकृतियों का बंध होता है और उसके बाद दूसरे से लेकर छठे भाग तक पाँच भागों में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बंधविच्छेद पहले भाग के अन्त में हो जाने से ५६ प्रकृतियों का और आगे से छठे भाग के अंतिम समय में ३० प्रकृतियों के व्युच्छिन्न हो जाने से सातवें भाग में २६ प्रकृतियों का बंध होता है।

अब नौवें और दसवें गुणस्थान के बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम आदि बतलाते हैं।

नौवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के पांच भाग होते हैं, अतः इस नौवें गुणस्थान में अन्तिम समय—सातवें भाग के अंत में हास्य, रति, जुगुप्सा व भय इन चार प्रकृतियों

---

1. तुलना करो—

चरमे हस्सं च रई भयं दुगुंछा य बंधवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड [illegible]

चाहिए। लेकिन 'सम्मेव तित्थबंधो' सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध होता है, का सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नाम बांधा जा सकता है तथा इसी प्रकार 'सम्मामिच्छादिट्ठी आउय बंधं पि न करेइ त्ति' के सिद्धांतानुसार तीसरे गुणस्थान में जो मनुष्यायु और देवायु[1] का भी बन्ध नहीं होता था, उन दोनों आयु का चौथे गुणस्थान में बन्ध हो सकता है।

इस प्रकार तीर्थङ्कर नामकर्म एवं मनुष्यायु, देवायु इन तीन प्रकृतियों के साथ चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म प्रकृतियों का भी वन्ध हो सकता है, जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है। अतएव सब मिलाकर ७७ कर्म प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान में माना जाता है।

चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव और नारक यदि परभव सम्बन्धी आयु का बंध करें तो मनुष्यायु और तिर्यंचायु को बांधते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच देवायु को बांधते हैं।

अब पांचवें देशविरत गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या उनके नाम और कारण आदि को समझाते हैं।

पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का वन्ध होता है। चौथे गुणस्थान में जो वन्धयोग्य ७७ प्रकृतियां हैं, उनमें से वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ और औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, इन १०

१. नरकायु और तिर्यंचायु का बंधविच्छेद पहले और दूसरे गुणस्थान में हो जाने से मनुष्यायु और देवायु ये दो प्रकृतियां बंधयोग्य रहती हैं।

का विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसके बाद पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ इन पाँच प्रकृतियों में से एक-एक प्रकृति का बन्धविच्छेद क्रमशः नौवें गुणस्थान के पाँच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय में होता है।[1] इनके बंधविच्छेद के क्रम को नीचे स्पष्ट करते हैं।

नौवें गुणस्थान के पहले भाग में बाँधी गई २२ प्रकृतियों में से पुरुषवेद का विच्छेद पहले भाग के अन्तिम समय में हो जाने से दूसरे भाग में २१ प्रकृतियों का बन्ध होगा। इन २१ प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध का विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय में होता है। अतः इससे बाकी रही हुई २० प्रकृतियों का बंध तीसरे भाग में होता है। इन २० प्रकृतियों में से संज्वलन मान का विच्छेद तीसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाने से चौथे भाग में १९ प्रकृतियों का बंध होगा और चौथे भाग के अन्तिम समय में संज्वलन माया का विच्छेद हो जाने से पाँचवें भाग में १८ प्रकृतियों का बंध होता है। अर्थात् नौवें गुणस्थान के पाँचवें भाग में १८ प्रकृतियों का बंध होता है।

इस प्रकार इन १८ प्रकृतियों में से भी संज्वलन लोभ का बंध नौवें गुणस्थान के पाँचवें भाग पर्यन्त होता है और इस भाग के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का बंधविच्छेद हो जाने से दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बंध होता है।

---

१. तुलना करो—

पुरिसं चदु संजलणं कमेण अणियट्टि पंचभागेसु।

—गो० कर्मकाण्ड—१०१

प्रकृतियों का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान[1] के अन्त में होने से पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

पांचवें आदि गुणस्थानों में मनुष्यभवयोग्य कर्म प्रकृतियों का वन्ध न होकर देवभवयोग्य कर्म प्रकृतियों का ही बंध होता है। इसलिए मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन कर्म प्रकृतियां केवल मनुष्य जन्म में ही भोगी जा सकती हैं। इसी प्रकार वज्र-ऋषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग ये तीन कर्मप्रकृतियां भी मनुष्य या तिर्यंच के जन्म में ही भोगने योग्य होने से उनका पांचवें आदि गुणस्थानों में वंध नहीं होता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों का वंध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे के गुण-स्थानों में नहीं होता है। क्योंकि कषाय के बंध के लिए यह सामान्य नियम है कि जितने गुणस्थानों में जिस कषाय का उदय हो सकता है, उतने गुणस्थानों तक उस कषाय का वन्ध होता है।

पांचवें देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव देशसंयम का पालन करने वाला होता है। अर्थात् देशविरत उसे कहते हैं जो एकदेश संयम का पालने वाला होता है। देशसंयम को रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। अतः जब तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहेगा, तब तक देशसंयम ग्रहण नहीं हो सकने से जीव को पांचवां गुण-स्थान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए अप्रत्याख्यानावरण कषाय का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्त में हो जाता है।

---

१. तुलना करो—

अयदे विदियकसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ।

—गो० कर्मकांड ६७

किंतु दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म कषायांश के नष्ट हो जाने से तन्निमित्तिक चार दर्शनावरण आदि उक्त १६ प्रकृतियों का वंधविच्छेद होने पर[1] ग्यारहवें–उपशांत कषाय वीतराग छद्‌मस्थ, वारहवें—क्षीणकषाय वीतराग छद्‌मस्थ और तेरहवें—सयोगि केवली इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ योगनिमित्तक सातावेदनीय नामक प्रकृति वंधयोग्य रहती है। अर्थात् ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतः कषायोदय से बँधने वाली १६ प्रकृतियों का बंध भी उन गुणस्थानों में नहीं होता है किंतु इनमें योग का सद्‌भाव है, इसलिए योग के निमित्त से बँधने वाली सातावेदनीय नामक एक प्रक्रृति ग्यारह, वारह और तेरह—इन तीन गुणस्थानों में वंधयोग्य रहती है।[2]

इसके अनन्तर चौदहवें—अयोगिकेवलि गुणस्थान में बन्ध के कारण योग का अभाव हो जाता है। इसलिए उस गुणस्थान में साता-वेदनीय का भी वन्ध नहीं होता है और अबन्धक अवस्था प्राप्त होती है।[3] अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में वन्ध के कारण योग का अभाव होने से न तो किसी कर्म का वन्ध ही होता है और न बन्धविच्छेद ही। इसलिए चौदहवें गुणास्थान में अवन्धकत्व अवस्था प्राप्त होती है।

---

१. तुलना करो—

पढमं विग्घं दंसणचउजसउच्चं च सुहुमंते।

—गो० कर्मकाण्ड १०१

२. उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्‌ठिदी सादं।

—गो० कर्मकाण्ड १०२

३. णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य।

—गो० कर्मकाण्ड १०२

इस प्रकार चौथे गुणस्थान की बन्ध योग्य ७७ प्रकृतियों में वज्र ऋषभनाराच संहनन से लेकर औदारिक अंगोपांग पर्यन्त दस प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से शेष ६७ कर्म प्रकृतियों का ही बंध पांचवें गुणस्थान में होता है।

पांचवें गुणस्थान में बंधयोग्य उक्त ६७ प्रकृतियों में से प्रत्याख्याना वरण चतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों का उदय पांचवें गुणस्थान तक ही होता है और उसके अन्तिम समय में बन्धविच्छेद[1] हो जाने से प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि उक्त कषायों को छोड़कर शेष ६३ प्रकृतियां छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में बंधयोग्य मानी जाती हैं। अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चार कषायों का बंध पांचवें गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि छठे आदि गुणस्थानों में उन कषायों का उदय रहे तो छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि उक्त चार कषायों को छोड़कर शेष ६३ प्रकृतियों का बन्ध छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य माना जाता है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थान में बंध योग्य ७४ प्रकृतियां हैं और इस गुणस्थान में किसी भी कर्म प्रकृति का वन्धविच्छेद नहीं होने से चौथे गुणस्थान में भी ७४ प्रकृतियों का वंध होना मानना चाहिए। किन्तु आयुद्विक—मनुष्यायु और देवायु तथा तीर्थंकर नामकर्म का वंध इस गुणस्थान में हो सकने से ७७ प्रकृतियां चौथे गुणस्थान में वंध योग्य मानी जाती हैं।

---

१. तुलना करो—
देसे तदियकसाया णियमेणिह बंधवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकांड-६७

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ।
तिसु सायबन्ध छेओ सजोगि बन्धं तुणंतो अ ॥१२॥

गाथार्थ—चार दर्शनावरणीय, उच्चगोत्र, यशःकीर्त नाम और ज्ञानावरणीय—अन्तराय दशक (ज्ञानावरणीय की पाँच और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ). इन सोलह प्रकृतियों का बंध, विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्त में हो जाने से, ग्यारह, बारह और तेरह—इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है और सयोगिकेवली गुणस्थान में उसका भी छेद होने से चौदहवें गुणस्थान में उसके भी बंध का अन्त हो जाता है।

विशेषार्थ—गाथा में ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीन गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियों का निर्देश करते हुए चौदहवें गुणस्थान की अबंधदशा और उसके कारण को बतलाया है।

यद्यपि दसवें गुणस्थान में बन्ध के वास्तविक कारण स्थूल लोभ-कषाय का उदय नहीं रहता है, किन्तु सूक्ष्म-सी लोभ कषाय रहती है, जो बंध का कारण नहीं है। फिर भी कषाय का अति सूक्ष्म अंश दसवें गुणस्थान में है, इसलिए बंध के कारण कषाय और योग के वहाँ रहने से कषाय निमित्तिक चार दर्शनावरण (चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण), उच्च गोत्र, यशः-कीर्ति नाम, पाँच ज्ञानावरण (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण), पाँच अन्तराय(दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय)—ये १६ प्रकृतियाँ और योगनिमित्तिक सातावेदनीय कुल १७ प्रकृतियों का बंध दसवें गुणस्थान में होता है।

पांचवें आदि आगे के गुणस्थानों में देव-भवयोग्य कर्म प्रकृतियों का वन्ध होता है, मनुष्य-भवयोग्य प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता है। इसलिए मनुष्य भवयोग्य मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी, मनुष्यायु तथा वज्रऋषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग— छह कर्मप्रकृतियों का तथा देश संयम को रोकने वालीं अप्रत्याख्याना- ण क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों कुल १० कृतियों का वन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्त में हो जाने से ांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का वन्ध माना जाता है।

उक्त ६७ प्रकृतियों में भी जो सकल संयम की घातक प्रत्याख्याना- वरण कषाय है, उसका वन्धविच्छेद पाँचवें गुणस्थान के चरम समय में होने से छठे गुणस्थान की प्राप्ति होती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के रहने पर छठे गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चार कषायों के बिना शेष ६३ प्रकृतियों का वन्ध होना माना जाता है।

इस प्रकार चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियों ी संख्या आदि वतलाने के पश्चात् अव आगे की दो गाथाओं में ातवें अप्रमत्त गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम और वन्ध प्रकृतियों की विशेषता को समझाते हैं।

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अप्पमत्तो सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगदुगं वन्धे ॥ ८ ॥

किंतु दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म कषायांश के नष्ट हो जाने से तन्निमित्तिक चार दर्शनावरण आदि उक्त १६ प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने पर[1] ग्यारहवें–उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ, बारहवें—क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ और तेरहवें—सयोगि केवली इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ योगनिमित्तक सातावेदनीय नामक प्रकृति बंधयोग्य रहती है। अर्थात् ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतः कषायोदय से बँधने वाली १६ प्रकृतियों का बंध भी उन गुणस्थानों में नहीं होता है किंतु इनमें योग का सद्भाव है, इसलिए योग के निमित्त से बँधने वाली सातावेदनीय नामक एक प्रकृति ग्यारह, बारह और तेरह—इन तीन गुणस्थानों में बंधयोग्य रहती है।[2]

इसके अनन्तर चौदहवें—अयोगिकेवलि गुणस्थान में वन्ध के कारण योग का अभाव हो जाता है। इसलिए उस गुणस्थान में साता-वेदनीय का भी वन्ध नहीं होता है और अवन्धक अवस्था प्राप्त होती है।[3] अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में वन्ध के कारण योग का अभाव होने से न तो किसी कर्म का वन्ध ही होता है और न वन्धविच्छेद ही। इसलिए चौदहवें गुणास्थान में अवन्धकत्व अवस्था प्राप्त होती है।

---

१. तुलना करो—

पढमं विग्घं दंसणचउजसउच्चं च सुहुमंते।

—गो० कर्मकाण्ड १०१

२. उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं।

—गो० कर्मकाण्ड १०२

३. णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य।

—गो० कर्मकाण्ड १०२

गाथार्थ—(शेष ६३ प्रकृतियों का बन्ध प्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है।) शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्तिनाम और असाता वेदनीय—इन छह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से और आहारक-द्विक का बन्ध होने से अप्रमत्त संयत गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का और यदि कोई जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है तो उस जीव की अपेक्षा से अरति आदि पूर्वोक्त ६ प्रकृतियों का तथा देवायु कुल सात प्रकृतियों का वन्धविच्छेद कर देने से ५८ प्रकृतियों का बन्ध होना माना जाता है।

विशेषार्थ—सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं। छठे गुणस्थान में वन्धयोग्य ६ प्रकृतियों में से शोक, अरति, अस्थिरद्विक—अस्थिरनाम और अशु नाम, अयशःकीर्ति नाम और असाता वेदनीय—इन छह प्रकृति का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से सात गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का बन्ध होना चाहिए, किन्तु इस गुणस्था में आहारकद्विक— आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग—इन प्रकृतियों के भी वन्धयोग्य हो जाने से ५९ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य मा जाती हैं। लेकिन जो जीव छठे गुणस्थान में ही देवायु का भी वंधविच्छे कर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृति सातवें गुणस्थान में वन्धयोग्य मानी जाती हैं।

उक्त विभिन्नता के कारण को निम्नप्रकार से स्पष्ट करते हैं।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार होते हैं—

सारांश यह है कि ग्यारह, बारह और तेरह इन तीन गुणस्थानों में बन्ध के कारण योग के सद्भाव रहने से सिर्फ साता वेदनीय नामक एक प्रकृति का बन्ध होता है और तेरहवें गुणस्थान के अन्त में योग के भी नहीं रहने से योग निमित्तक सातावेदनीय प्रकृति का बंधविच्छेद हो जाने से चौदहवें गुणस्थान में न तो किसी कर्म प्रकृति का बंध ही होता है और न बंधविच्छेद ही, किन्तु अबंधकत्व अवस्था प्राप्त हो जाती है।

यह अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के वाद जीव अपने स्वरूप में रमण करता रहता है।

पूर्वोक्त प्रकार से चौदह गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम और बन्धविच्छेद को बतलाया गया है। कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच कारण हैं।[1] इन बन्ध के कारणों की संख्या के बारे में निम्नलिखित तीन परम्परायें देखने में आती हैं—

(१) कषाय और योग—ये दोनों ही बंधहेतु हैं।
(२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार बन्धहेतु हैं।
(३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचों बंधहेतु हैं।

इस तरह से संख्या और नामों के भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन तीनों परंपराओं में कोई भेद नहीं है। क्योंकि प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही तो है। अतः वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही

---

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय योगा बन्धहेतवः।

—तत्त्वार्थसूत्र ८-१

है और बारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असंयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते अतः कषाय और योग इन दोनों को ही बंधहेतु माना जाता है।

उक्त तीनों परम्पराओं में से जिज्ञासु जनों को सरलता से समझाने के लिए ग्रन्थकार ने मध्यममार्ग का आश्रय लेते हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों को बन्ध का कारण मानकर गुणस्थानों में कर्मबन्ध का वर्णन किया है।

अधिकतर कर्मग्रन्थों में आध्यात्मिक विकास की भूमिका रूप गुण-स्थानों में बँधने वाली कर्म प्रकृतियों के तरतम भाव के कारण को बतलाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्ध हेतुओं का कथन किया जाता है और इनके माध्यम से जीव की विकास स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसलिए जिस गुण-स्थान में उक्त चार में से जितने अधिक बन्धहेतु होंगे, उस गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा और जहाँ पर ये बन्धहेतु कम होंगे, वहाँ पर कर्म प्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। अर्थात् मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं के कथन की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानों में तरतम भाव को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध के कारणों का स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मग्रन्थों में ग्रहण की जाती है।

कर्म प्रकृतियों के बन्ध के विषय में यह एक साधारण-सा नियम है कि जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही उन कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है और उतने कारणों में से किसी एक कारण के कम हो जाने से उन कर्म प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। शेष सब कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार पहले गुणस्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में से पहले गुणस्थान के चरम समय में व्युच्छिन्न होने वाली सूक्ष्म आदि पाँच प्रकृतियों एवं नरकानुपूर्वी प्रकृति सहित कुल छह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

दूसरे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों को बतलाने के अनन्तर अब तीसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और दूसरे गुण-स्थान के अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उनमें से अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति और विकलेन्द्रियत्रिक–द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय जाति—ये नौ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छिन्न हो जाती हैं। क्योंकि अनन्ता-नुबन्धी कषाय चतुष्क का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानों तक ही होता है, तीसरे आदि आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है तथा स्थावर नाम कर्म और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म, त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय वाले जीवों में पहला और दूसरा गुणस्थान होता है। तीसरे से लेकर आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं। क्योंकि स्थावर नाम और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों को होता है तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म से लेकर चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय द्वीन्द्रियादि उन-उनके योग्य इन्द्रियवालों के होता है। अर्थात् द्वीन्द्रिय जातिनाम का उदय द्वीन्द्रिय जीवों को, त्रीन्द्रिय जातिनाम का उदय त्रीन्द्रिय जीवों को और चतुरिन्द्रिय जातिनाम का उदय चतुरिन्द्रिय जीवों को

उक्त कथन का आशय यह है कि सामान्य से १२० कर्म प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं और मिथ्यात्वादि बन्ध के चारों कारणों के रहने पर बन्धयोग्य सभी प्रकृतियों का बन्ध होगा और उनमें से यदि पूर्व कारण का अभाव हो जाए तो उसके सहित आगे के कारणों द्वारा बँधने वाली प्रकृतियों में से उससे बँधने वाली प्रकृतियों का बंध न होकर शेष बचे हुए कारणों से ही बँधने वाली कर्म प्रकृतियों का बन्ध होगा। अर्थात् पूर्व-पूर्व कारणों के न रहने पर उत्तर-उत्तर के कारणों से बँधने वाली प्रकृतियों का बन्ध होगा, किन्तु स्वयं उसके और उसके पूर्व कारणों से बँधने वाली प्रकृतियों का बंध नहीं होता है।

जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त१६ कर्मप्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त रहते हैं, अतः उक्त १६ कर्म प्रकृतियों का बंध भी उस समय तक हो सकता है। लेकिन पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व आदि उक्त कारणों में से मिथ्यात्व नहीं रहता है, इसलिए नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का बंध भी पहले गुणस्थान से आगे नहीं होता है। इसी प्रकार दूसरी-दूसरी कर्म-प्रकृतियों का बंध व विच्छेद बंध के हेतुओं के सद्भाव और विच्छेद पर निर्भर है।

इन बंध के हेतुओं की अपेक्षा गुणस्थानों का वर्गीकरण, बंधयोग्य प्रकृतियों की अल्पाधिक संख्या, नाम और कारण आदि के लिए परिशिष्ट देखिये।

होता है और इन सब जीवों के पहला या दूसरा ये दो ही गुणस्थान हो सकते हैं।

अतः अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर चतुरिन्द्रिय जातिनाम पर्यन्त कुल नौ प्रकृतियों का उदयविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है[1] तथा 'अणुपुव्वीणुदया' अर्थात् नरकानुपूर्वी का उदय-विच्छेद पहले गुणस्थान के चरम समय में हो जाने से शेष रही हुई तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी—ये तीन आनुपूर्वियाँ तीसरे गुणस्थान में उदययोग्य न होने से अर्थात् अनुदयरूप होने से तीसरे गुणस्थान की उदय प्रकृतियों में नहीं गिनी जाती हैं।

आनुपूर्वी नामकर्म का उदय जीवों को उसी समय होता है, जिस समय कि वे दूसरे स्थान पर जन्म ग्रहण करने के लिए वक्रगति से जाते हैं। किन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव मरता नहीं है और जब वर्तमान भव सम्बन्धी शरीर को छोड़कर आगामी भव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने की संभावना ही तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के नहीं तो नवीन भव के शरीर को ग्रहण करने के लिए विग्रहगति में विद्यमान जीव को वैसा अध्यवसाय न होने से सहकारी आनुपूर्वी नाम-कर्म का उदय भी नहीं हो सकता है। इसीलिए तीसरे गुणस्थान में आनुपूर्वियों का अनुदय माना जाता है, अर्थात् आनुपूर्वी नामकर्म का उदय दूसरे-दूसरे गुणस्थानों में होता है,[2] किन्तु तीसरे मिश्रगुणस्थान में नहीं होता है।

---

१. सासणे अणेइन्दी. थावरवियलं च उदय वोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड २६

२. आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय 'मिच्छदुगयदेव आणुदयो' मिथ्यात्व, सास्वा

इस प्रकार गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों का कथन करने के अनन्तर आगे की गाथाओं में कर्मों के उदय, उदीरणा, सत्ता का वर्णन करते हैं। पहले उदय और उदीरणा का लक्षण कहने के अनन्तर प्रत्येक गुण-स्थान में कितनी-कितनी कर्म प्रकृतियों का उदय होता है और कितनी-कितनी प्रकृतियां की उदीरणा होती है, इन दोनों को समझाते हैं।

आगे की गाथा में उदय और उदीरणा का लक्षण कहकर उदय योग्य प्रकृतियों की संख्या और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय को प्राप्त होने वाली प्रकृतियों की संख्या और उसके कारणों को स्पष्ट करते हैं।

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं।
सतरसयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया ॥१३॥

गाथार्थ—विपाक के समय फल को भोगना उदय और विपाक का समय न होते हुए भी फल का भोग करना उदीरणा कहलाता है। सामान्य से उदय और उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियां १२२ हैं। उनमें से मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थङ्कर नाम—इन पाँच प्रकृतियों का उदय न होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

विशेषार्थ—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मदलिकों का अपने नियत समय शुभाशुभ फलों का अनुभव कराना उदय है एवं कर्मदलिकों को प्रयत्न विशेष से खींचकर नियत समय से पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना उदीरणा कहलाती है।

कोई भी कर्म जिस समय बंधता है, उसी समय से उसकी सत्ता शुरू होती है और जिस कर्म का जितना अवाधाकाल हो, उसके पूरे

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर चतुरिन्द्रिय नामकर्म पर्यन्त कुल नौ प्रकृतियों तथा तिर्यंच, मनुष्य और देव आनुपूर्वी इन तीन पूर्वियों सहित बारह प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान में उदययोग्य १११ प्रकृतियों में से कम करने पर तीसरे गुणस्थान में ९९ प्रकृतियों का उदय होना माना जाना चाहिए, किन्तु मिश्रमोहनीय कर्म का उदय तीसरे गुणस्थान 'मीसे मीसोदएण' में ही होने से उक्त ९९ प्रकृतियों में मिश्र मोहनीय कर्म को मिलाने से कुल १०० प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में माना जाता है।

तीसरे गुणस्थान में उदययोग्य मानी जाने वाली १०० प्रकृतियों में से इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में मिश्र मोहनीय का उदय-विच्छेद हो जाता है।[1] अतः उक्त १०० प्रकृतियों में से मिश्र मोहनीय के सिवाय शेष रही ९९ प्रकृतियों का उदय चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों के 'सम्माणुपुव्विखेवा' सम्यक्त्व मोहनीय एवं चारों आनुपूर्वियों— नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आनुपूर्वियों का उदय[2] होना संभव है। इसलिए पूर्वोक्त ९९ प्रकृतियों में सम्यक्त्व मोहनीय, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी—इन पाँच प्रकृतियों को

---

१. मिस्से मिस्सं च उदयवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड २६५

२. अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रतादि संयम का पालन नहीं करता है और ऐसा जीव (निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सूत्र १९) चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध कर सकता है। अतः परभव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने के लिए विग्रहगति से जाते समय चारों आनुपूर्वियों में से यथायोग्य उस नाम वाले आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को होता है।

होने पर ही उन कर्मों की उदय में आने के लिए कर्मदलों की एक प्रकार की रचना विशेष होती है और कर्म उदयावलि में स्थित होकर, उदय में आकर फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

कर्मों के शुभाशुभ फल को भोगने का ही नाम उदय और उदीरणा है किन्तु दोनों में इतना भेद है कि उदय में प्रयत्न बिना ही स्वाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और उदीरणा में फलोदय के अप्राप्त काल में प्रयत्न को कर फल का भोग होता है। कर्म-विपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ रसोदय को ग्रहण करना चाहिए, किन्तु प्रदेशोदय को उदयाधिकार में ग्रहण करना इष्ट नहीं है।

प्रत्येक कर्म में बंध के समय उसके कारणभूत काषायिक अध्य-वसाय के तीव्र, मंद भाव के अनुसार तीव्र, मंद फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और अवसर आने पर तदनुसार फल देता है। परन्तु इसके विषय में इतना समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक फलप्रद शक्ति स्वयं जिस कर्म में निष्ठ हो, उसी कर्म के स्वभाव अर्थात् प्रकृति के अनुसार ही फल देती है, दूसरे कर्म के स्वभावानुसार नहीं। जैसे ज्ञानावरण कर्म की फलप्रद शक्ति उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मंद फल देती है, यानी वह ज्ञान को आवृत करने का ही काम करती है, लेकिन दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नहीं देती है। इसी प्रकार दर्शनावरण की फलप्रद शक्ति दर्शन गुण को तीव्र या मंद रूप से आवृत्त करती है, लेकिन अन्य कर्मों के कार्यों को नहीं करती है।

कर्म के स्वभावानुसार फल देने का नियम भी मूल प्रकृतियों में ही लागू होता है, उत्तर प्रकृतियों में नहीं। क्योंकि अध्यवसाय के

मिलाने से कुल १०४ प्रकृतियों का उदय चौथे गुणस्थान में वर्तमान जीवों को माना जाता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक रहता है और जब तक उक्त कषायचतुष्क का उदय है, तब तक जीवों को पाँचवें देशविरत गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का उदय पहले से चौथे चार गुणस्थानों तक में ही समझना चाहिए, पाँचवें आदि आगे के गुण-स्थानों में नहीं।

पाँचवाँ गुणस्थान तिर्यंचों को होना संभव है और पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थान मनुष्यों को हो सकते हैं, देवों और नारकों को नहीं और मनुष्य तथा तिर्यंच भी आठ वर्ष की उम्र हो जाने के बाद ही उन गुणस्थानों को प्राप्त करने योग्य होते हैं, उसके पहले नहीं। अतः आनुपूर्वी नामकर्म का उदय वक्रगति से परभव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने जाते समय आत्मा को होता है, परन्तु किसी भी आनुपूर्व कर्म के उदय के समय जीवों को पाँचवाँ आदि गुणस्थान होना संभव नहीं है। अतः तिर्यंचानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी का उदय पाँचवें गुण स्थान में होना असंभव है और इसीलिए चौथे गुणस्थान के चरम समय में इनका उदयविच्छेद होना माना जाता है। नारक और देव-आनपूर्वी—इन दो आनुपूर्वियों का उदय भी पाँचवें गुणस्थान में नहीं होता है। इन दोनों के नाम गाथा में 'विउव्वट्ठ' वैक्रिय अण्टक शब्द में ग्रहण किये गये हैं, जिनका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

यह पहले बताया जा चुका है कि देव और नारकों को पाँचवां आदि गुणस्थान नहीं होते हैं। अतः वैक्रिय अण्टक संज्ञा में ग्रहण की गई आठ प्रकृतियाँ देव और नारकों से सम्बन्धित हैं और

वल से किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति वाद में उसी कर्म की दूसरी उत्तारप्रकृति के रूप में वदल सकती है। जिससे पहले की फलप्रद शक्ति परिवर्तित उत्तारप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मंद फल प्रदान करती है। जैसे मतिज्ञानावरण जव श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तारप्रकृति के रूप में परिवर्तित होता है, तव मति-ज्ञानावरण की फलप्रद शक्ति श्रुतज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि को आवृत करने का कार्य करती है।

लेकिन सभी उत्तारप्रकृतियों के लिए यह नियम लागू नहीं होता है। उनमें से कितनी ही उत्तरप्रकृतियां ऐसी भी हैं जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमित नहीं होती हैं। जैसे दर्शनमोह और चारित्रमोह, इनमें से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्र-मोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता है। इसी तरह आयु कर्म की चारों आयुओं में परस्पर अन्य आयुष्क के रूप में संक्रमण नहीं होता है।

सामान्यतया उदययोग्य १२२ प्रकृतियाँ हैं और वंधयोग्य १२० प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार उदय और वंधयोग्य प्रकृतियों में दो का अन्तर है, जो नहीं होना चाहिए। क्योंकि जितनी प्रकृतियों का वंध होवे, उतनी ही प्रकृतियों को उदययोग्य माना जाना चाहिए। उस स्थिति में विना कर्मवंध के कर्मफल भोगना माना जाएगा, जो सिद्धान्त-विरुद्ध है। इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

वंधयोग्य १२० प्रकृतियों की अपेक्षा १२२ प्रकृतियों को उदययोग्य वताने का कारण यह है कि वंध केवल मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता है और वह मिथ्यात्व मोहनीय जव परिणामों की विशुद्धता से अर्द्ध विशुद्ध और शुद्ध रूप हो जाता है, तव मिश्र मोहनीय (सम्यग् मिथ्यात्व

इसीलिए उन आठ प्रकृतियों को पाँचवें गुणस्थान में उदययोग्य नहीं माना जाता है। वैक्रिय अष्टक में निम्नलिखित आठ प्रकृतियाँ हैं—

(१) वैक्रिय शरीर, (२) वैक्रिय अंगोपांग, (३) देवायु, (४) देवगति, (५) देवानुपूर्वी, (६) नरकायु, (७) नरकगति और (८) नरकानुपूर्वी।

इन आठ प्रकृतियों में से देवायु और देवगति का उदय देवों में ही पाया जाता है और नरकायु तथा नरकगति का उदय नारकों को ही होता है। वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म का उदय देव और नारक—दोनों को होता है। परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि देव, नारकों में पाँचवां आदि गुणस्थान नहीं होता है तथा इसी प्रकार देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी—इन दोनों आनुपूर्वियों के विषय में भी बताया जा चुका है कि वक्रगति से नवीन शरीर धारण करने जाते समय होता है और उस समय जीवों के पाँचवें आदि गुणस्थान नहीं होते हैं। इसलिए वैक्रियाष्टक में बताई गई आठ प्रकृतियों का उदयविच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से पाँचवें गुणस्थान में उदय नहीं होता है।

शंका—पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य और तिर्यंच दोनों ही वैक्रिय-लब्धि प्राप्त होने पर वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग बना सकते हैं। इसी प्रकार छठे गुणस्थान में वर्तमान वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मुनि भी वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग बना सकते हैं। उस समय उन मनुष्यों और तिर्यंचों को वैक्रियशरीर नाम और वैक्रिय-अंगोपांग नामकर्म इन दोनों का उदय अवश्य रहता है। इसलिए पाँचवें और छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों में वैक्रियशरीर नामकर्म और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म इन दोनों प्रकृतियों की गणना की जानी चाहिए।

मोहनीय) तथा सम्यक्त्व मोहनीय के रूप से उदय में आने से बंधयोग्य १२० में इन दोनों को मिलाने पर कुल १२२ प्रकृतियाँ उदय और उदीरणा योग्य मानी जाती हैं।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्म प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४ नाम ६७, गोत्र २, और अन्तराय ५। इस प्रकार ५+६+२+२८+४+६७+२+५=१२२ हो जाती हैं।

उदययोग्य १२२ कर्म प्रकृतियों में से मिश्र मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में, सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में, आहारकद्विक (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग) का उदय प्रमत्त गुणस्थान में और तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होने से इन पाँच कर्म प्रकृतियों को छोड़कर शेष ११७ कर्म प्रकृतियों का पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय माना जाता है। अर्थात् मिश्र मोहनीय से लेकर तीर्थङ्कर नाम पर्यन्त उक्त पाँच प्रकृतियों का पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में अनुदय होने से ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं।

इस प्रकार उदय और उदीरणा का लक्षण और सामान्य से उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या, उसका कारण तथा पहले गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और सम्बन्धित कारण को बतलाने के बाद आगे की चार गाथाओं में दूसरे सासादन गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान पर्यन्त कुल ६ गुणस्थानों की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि का कथन करते हैं।

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं।
निरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इगविगलअंतो ॥१४॥

समाधान—जिनको जन्म से लेकर मरण तक यावज्जीवन वैक्रिय-शरीर नाम और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म का उदय रहता है, ऐसे देव और नारकों की अपेक्षा से यहाँ उदयविचार किया गया है। किन्तु मनुष्यों और तिर्यंचों में तो कुछ समय के लिए इन दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, सो भी सभी मनुष्यों और तिर्यंचों में नहीं इसीलिए मनुष्यों और तिर्यंचों की अपेक्षा से पाँचवें और छठे गुणस्थान में उक्त दो प्रकृतियों का उदय सम्भव होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं की गई है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचों को उत्तर वैक्रि (गुणप्रत्यय वैक्रिय—लब्धिविशेष से उत्पन्न होने वाला) होता और वह अविरत चक्रवर्ती आदि को भी हो सकता है तथा विष्णु कुमारादिक मुनियों के भी वैक्रियलब्धि होने का सुना है और छठे कर्मग्रन्थ में भी योग के भांगों में अप्रमत्त को वैक्रियद्विक का उदय कहा है, परन्तु यहाँ गुणप्रत्ययिक उत्तर वैक्रिय की विवक्षा नहीं की गई है, उस गति में जन्म लेने से (भवप्रत्यय) प्राप्त होने वाले वैक्रियद्विक की विवक्षा की गई है। ऐसा भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म देव और नारकों को ही होता है, मनुष्य और तिर्यंचों को नहीं होता है और पांचवां गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंचों को ही होता है, देव और नारकों को नहीं। इसलिए वैक्रिय शरीर नामकर्म और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म इन दो प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में नहीं माना जाता है।

इसी प्रकार पाँचव आदि गुणस्थानों को प्राप्त करने वाले जीवों के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे दुर्भग नामकर्म, अनादेय-द्विक—अनादेय नामकर्म और अयशःकीर्ति नामकर्म ये तीन प्रकृतियां पहले चार गुणस्थानों में ही उदय हो सकती हैं, किन्तु पाँचवें आदि आगे के गुणस्थानों में इनका उदय होना सम्भव नहीं है।

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया ॥१५॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥

गाथार्थ—सूक्ष्मत्रिक, आतप नाम और मिथ्यात्व मोहनीय का मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में क्षय होने से और नरकानुपूर्वी का अनुदय होने से सासादन गुणस्थान में एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय होता है । अनन्तानुबंधी चतुष्क, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रियत्रिक का अन्त होने से तथा आनुपूर्वी नामकर्म का अनुदय एवं मिश्र मोहनीय का उदय होने से मिश्र गुणस्थान में सौ प्रकृतियों का उदय होता है । तीसरे गुणस्थान के अन्त में मिश्र मोहनीय का अन्त होने से तथा सम्यक्त्व मोहनीय एवं चारों आनुपूर्वियों को मिलाने से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में एक सौ चार प्रकृतियों का और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, मनुष्य-आनुपूर्वी, तिर्यंच-आनुपूर्वी, वैक्रियाष्टक, दुर्भग और अनादेयद्विक इन सत्रह प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य एक सौ चार प्रकृतियों में से कम करने पर देशविरत गुणस्थान में सतासी प्रकृतियों का उदय होता है । पाँचवें गुणस्थान की उक्त सतासी प्रकृतियों में से तिर्यंचगति और आयु, नीचगोत्र, उद्योत, तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का छेद

इसलिए चौथे गुणस्थान में उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी वैक्रियाष्टक, दुर्भग नामकर्म, अनादेय नामकर्म, अयशःकीर्ति नामकर्म इन १७ प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है।[1] अतः इन १७ प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से कम करने पर पाँचवें गुणस्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

पाँचवें गुणस्थान में जो ८७ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से 'तिरिगइ आउ निउज्जोय' तिर्यंचगति, तिर्यंच आयु, नीच गोत्र और उद्योत नामकर्म[2] ये चार प्रकृतियाँ तिर्यंचों में उदययोग्य हैं और तिर्यंचों को पहले से पाँचवें तक पाँच गुणस्थान ही हो सकते हैं, छठे आदि आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं। इसलिए इन प्रकृतियों का उदय विच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है, अर्थात् छठे आदि आगे के गुणस्थानों में उदययोग्य नहीं हैं।

---

१. तुलना करो—

अयदे विदियकसाया वेगुव्विय छक्क णिरयदेवाऊ।
मणुयतिरियाणुपुव्वी दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥

—गो० कर्मकाण्ड २६६

२. शास्त्र में 'जइदेवुत्तरविक्रिय' पद में मुनियों और देवों को उत्तर वैक्रिय शरीर धारण करने और उस शरीर को धारण करते समय उद्योत नामकर्म का उदय होना कहा है अतः जब वैक्रिय शरीर वाले की अपेक्षा से छठे गुणास्थान में उद्योत नामकर्म का उदय पाया जाता है तब पाँचवें गुणस्थान तक ही उद्योत नामकर्म का उदय क्यों माना जाता है? इसका समाधान यह है कि पाँचवें गुणस्थान तक जन्म के निमित्त से होने वाला ही उद्योत नामकर्म का उदय विवक्षित किया गया है, लब्धि के निमित्त से होने वाला उद्योत नामकर्म का उदय विवक्षित नहीं किया गया है।

होने तथा आहारक द्विक को मिलाने से छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में इक्यासी प्रकृतियों का उदय होता है और स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक इन पाँच प्रकृतियों का छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों में से कम करने पर सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान में छिहत्तर प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

विशेषार्थ—इन चार गाथाओं में दूसरे सासादन गुणस्थान, तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान, चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, पाँचवें देशविरत गुणस्थान, छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उस-उस गुणस्थान के अन्त में विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नामों में से किन्हीं के पूरे नाम और किन्हीं के संज्ञाओं द्वारा नाम बतलाये हैं।

पूर्व गाथा में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या ११७ बतलाई है। उनमें से यहाँ क्रमप्राप्त पहले के बाद दूसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और पहले गुणस्थान के अन्त में उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नामों का उल्लेख करते हैं।

पहले गुणस्थान में जो ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं, उनमें से सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म, साधारण नामकर्म तथा आतप नामकर्म, और मिथ्यात्व मोहनीय—ये पाँच प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के कारण ही उदय में आती हैं। किन्तु सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव है, अर्थात् मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने पर ही सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, अतः

शंका—तिर्यंचों की तरह मनुष्यों में भी नीचगोत्र का उदय होना सम्भव है और मनुष्यों के छठे गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थान होते हैं। इसलिए तिर्यंचों को पहले से पाँचवें तक पाँच गुणस्थान होने से नीचगोत्र का उदय तिर्यंचों की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान तक ही नहीं माना जाना चाहिए।

समाधान—नीचगोत्र का उदय मनुष्य को पहले से चौथे तक—चार गुणस्थानों तक ही हो सकता है। पाँचवाँ आदि गुणस्थान प्राप्त होने पर मनुष्यों में ऐसे गुण प्राप्त होते हैं कि जिनसे उनमें नीचगोत्र का उदय हो ही नहीं सकता है। उच्चगोत्र का उद अवश्य हो सकता है। परन्तु तिर्यंचों को तो अपने योग्य सब गुण स्थानों, अर्थात् एक से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक में स्वभाव से है नीचगोत्र का उदय रहता है, उच्चगोत्र का उदय होता ही नहीं है इसीलिए पांचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नीचगोत्र का उदय विच्छेद होना माना जाता है। क्योंकि पाँचवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान तिर्यंचों को होना सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार तिर्यंच गति आदि उद्योत पर्यन्त चार प्रकृतियों का उदय पांचवें गुणस्थान तक ही माना जाता है तथा प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ—का उदय जब तक रहता है, तब तक छठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती है और छठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय हो नहीं सकता है। क्योंकि छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सकल संयम—महाव्रतों का पालन करते हैं और प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि कषाय सकल संयम का घात करती हैं, अर्थात् जब तक

मिथ्यात्व के अभाव में सूक्ष्मत्रिक आदि पाँच प्रकृतियों का दूसरे सासादन गुणस्थान में उदय नहीं हो सकता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्म जीवों को ही, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त जीवों को और साधारण नामकर्म का उदय साधारण जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीवों को न तो सासादन गुण-स्थान प्राप्त होता है और न कोई सासादनत्व को ही प्राप्त करता है और न कोई सासादन प्राप्त जीव सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण रूप में पैदा होता है, अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीव मिथ्यात्वी ही होते हैं।

आतप नामकर्म का उदय उन्हीं वादर पृथ्वीकायिक जीवों को होता है, जिन्होंने शरीर पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया है। अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के वाद वादर पृथ्वीकायिक जीवों के ही आतप नामकर्म का उदय हो सकता है, पहले नहीं। लेकिन सासादन सम्यक्त्व को पाकर जो जीव वादर पृथ्वीकाय में जन्मग्रहण करते हैं, वे शरीर पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही अर्थात् आतप नामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही पूर्वप्राप्त सास्वादन सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं यानी वादर पृथ्वीकायिक जीवों को जव सास्वादन सम्यक्त्व की संभावना होती है तव आतप नामकर्म का उदय संभव नहीं है और जिस समय आतप नामकर्म होना संभव होता है, उस समय उनके सास्वादन सम्यक्त्व होना संभव नहीं होता है। इसी कारण सासादन गुणस्थान में आतप नामकर्म का उदय नहीं माना जाता है।

मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है, किन्तु सास्वा-दन सम्यक्त्व पहले गुणस्थान में कदापि नहीं हो सकता है। क्योंकि

प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय रहता है, तब तक सकल संयम का पालन नहीं हो सकता है और न छठा गुणस्थान प्राप्त हो सकता है। इसलिए इन कषायों का पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छेद हो जाने से छठे गुणस्थान में उदययोग्य नहीं मानी जाती हैं।

इस प्रकार पाँचवें गुणस्थान की उदययोग्य ८७ प्रकृतियों में से तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, उद्योत नामकर्म और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियों का उदय-विच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।[1] अतः इन आठ कर्मप्रकृतियों के बिना ७९ प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में होना माना जाना चाहिए। किन्तु आहारक-द्विक—आहारक शरीर नाम और आहारक अंगोपांग नामकर्म—इन दो प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में ही होने से पूर्वोक्त ७९ प्रकृतियों में इन दो को मिलाने से कुल ८१ प्रकृतियों का छठे गुणस्थान में उदय होना माना जाता है।

छठे गुणस्थान में आहारक शरीर नाम और आहारक अंगोपांग नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है, जिस समय कोई चतुर्दश पूर्वधर मुनि लब्धि के द्वारा आहारक शरीर की रचना कर उसे धारण करते हैं। चतुर्दश पूर्वधारी किसी सूक्ष्म विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर निकट में सर्वज्ञ के विद्यमान न होने से औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव समझकर अपनी विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा शुभ, सुन्दर, निरवद्य और अव्याघाती आहारक शरीर

---

1. देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोयणीच तिरियगदी।

—गो० कर्मकाण्ड २६७

मिथ्यात्व का उदय सम्यक्त्व के सद्भाव में होना किसी भी जीव में एक समय में होना असम्भव है।

अतः सूक्ष्म से लेकर मिथ्यात्व पर्यन्त पूर्वोक्त पाँच प्रकृतियों का विच्छेद पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के चरम समय में हो जाने से दूसरे आदि आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है।[1]

अतः पहले गुणस्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में से उक्त सूक्ष्म आदि पाँच प्रकृतियों के कम होने से ११२ प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में होना चाहिए था किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत (पतित) होकर सासादन गुणस्थान में आकर टिकने वाला जीव नरकगति में नहीं जाता है, किन्तु मिथ्यात्व प्राप्त कर ही जाता है। इसलिए नरकगति में जाने वाले जीव को सासादन गुणस्थान नहीं होने से नरकानुपूर्वी का उदय नहीं होता है। अर्थात् नरकानुपूर्वी का उदय वक्रगति से नरक में जाने वाले जीवों को होता है। परन्तु उस अवस्था में उन जीवों को सास्वादन सम्यक्त्व नहीं होता है। नरक-आनुपूर्वी का उदय और सास्वादन सम्यक्त्व इन दोनों का किसी भी जीव में एक साथ होना असम्भव है। सास्वादन सम्यक्त्व-प्रतिपन्न जीव नरक में नहीं उपजता है। अतः सासादन गुणस्थान में नरकानुपूर्वी का उदय नहीं होता है।[2]

---

१. मिच्छे मिच्छादावं सुहुमतियं.........उदयवोच्छिण्णा ।
मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्मादि तीन—इन पाँच प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है ।

—गो० कर्मकाण्ड २६५

२. णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदित्ति य ण तस्स णिरयाणू ।

—गो० कर्मकाण्ड २६२

का निर्माण करते हैं और ऐसे शरीर से क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनसे सन्देह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर वाप आ जाते हैं।[1]

लेकिन वह चतुर्दश पूर्वधारी मुनि लब्धि का प्रयोग करने वा होने से अवश्य ही प्रमादी होते हैं। जो लब्धि का प्रयोग करता है, व उत्सुक हो ही जाता है और उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्र का भंग हुआ। एकाग्रता के भंग होने को ही प्रमाद कहते हैं। इसलि आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थान में ही माना जाता है।

छठे—प्रमत्तसंयत गुणस्थान और सातवें—अप्रमत्तसंयत गु स्थान में इतना ही अन्तर है कि दोनों गुणस्थानों में सकल संयम व पालन किया जाता है लेकिन छठे गुणस्थान में प्रमादवश संयम विराधना भी हो सकती है। लेकिन सातवें गुणस्थान में प्रमाद व अभाव होने से संयम में दोष लगने की सम्भावना नहीं है। इसलि छठे गुणस्थान से आगे किसी भी गुणस्थान में प्रमाद न होने से प्रमाद जन्य प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

छठे गुणस्थान में उदययोग्य ८१ प्रकृतियाँ कही हैं, उनमें स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि तथ

---

१. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दश पूर्वधरस्यैव।

—तत्वार्थसूत्र २—४६

इसे आहारक समुद्घात भी कहते हैं। यह आहारक शरीर बनाते समय होता है एवं आहारक शरीर नामकर्म को विषय करता हुआ, अर्थात् आहारक लब्धि वाला साधु आहारक शरीर बनाने की इच्छा करता हुआ यथा स्थूल पूर्वबद्ध आहारक नामकर्म के प्रभूत पुद्गलों की निर्जरा करता है

आहारक द्विक—इन पाँच प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है।[1] क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमाद रूप है और छठे गुणस्थान से आगे प्रमाद का अभाव है। आहारकद्विक का उदय तो प्रमत्तसंयत को ही होता है। इसलिए इन पाँच प्रकृतियों का उदय विच्छेद छठे गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है, जिससे छठे गुणस्थान में उदय योग्य ८१ प्रकृतियों में से इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

यद्यपि आहारक शरीर बना लेने के बाद भी कोई मुनि विशुद्ध परिणाम से आहारक शरीरवान होने पर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। बहुत ही अल्पकाल के लिए ऐसा होता है, अतएव सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक के उदय को गिना नहीं है। इसीलिए सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय माना है।

सारांश यह है कि पहले गुणस्थान में जिन ११७ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से सूक्ष्म आदि नरकानुपूर्वी तक छह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय माना जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये चार जाति नामकर्म, स्थावर नामकर्म और मनुष्य, तिर्यंच एवं देव आनुपूर्वी—ये तीन आनुपूर्वी नामकर्म कुल १२ प्रकृतियों का दूसरे गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने तथा मिश्र मोहनीय का

---

1. तुलना करो—

छट्ठे आहारदुगं थीणतियं उदयवोच्छिण्णा।

—गो० कर्मकाण्ड २६७

नामकर्म के उदय का संकेत आगे की गाथा में 'तित्थुदया' पद से किया गया है।

सारांश यह है कि बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में जो ५७ प्रकृतियों का उदय कहा गया है, उनमें से निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का उस गुणस्थान के चरम समय से पहले के समय में अन्त हो जाने से ५५ प्रकृतियों का ही उदय रहता है और अन्तिम समय में ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय और ४ दर्शनावरण कर्म कुल १४ प्रकृतियों का उदयविच्छेद हो जाता है। अतः ५५ प्रकृतियों में से उक्त १४ प्रकृतियों को कम करने से शेष रही ४१ प्रकृतियाँ और तीर्थङ्कर नामकर्म कुल ४२ प्रकृतियाँ—तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य होती हैं।

अब आगे की गाथा में तेरहवें गुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम और चौदहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या तथा उसके भी चरम समय में अन्त होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

तित्थुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ संठाणा।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥ २१ ॥
दूसर सूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥
तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंता।

गाथार्थ—तेरहवें गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय होता है। औदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, खगतिद्विक, प्रत्येकत्रिक, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णचतुष्क, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, पहला संहनन, दुःस्वर नाम, सुस्वर नाम

उदय तीसरे गुणस्थान में ही उदययोग्य होने से तीसरे गुणस्थान में सौ प्रकृतियों का उदय होता है।

तीसरे गुणस्थान में जो सौ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं, उनमें से मिश्र-मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होने योग्य है, अन्य गुण-स्थानों में उदययोग्य न होने से उसे कम करके और उसके स्थान पर सम्यक्त्वमोहनीय का तथा चारों आनुपूर्वी नामकर्म का भी उदय चौथे गुणस्थान में होने से १०४ प्रकृतियों का उदय चौथे गुण-स्थान में होता है। इन १०४ प्रकृतियों में से मनुष्य व तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रिय-अष्टक, दुर्भग नामकर्म और अनादेयद्विक तथा अप्रत्याख्या-नावरण कषाय चतुष्क कुल १७ प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छेद हो जाने से पाँचवें गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं।

उक्त ८७ प्रकृतियों में से तिर्यंच गति, तिर्यंच आयु, नीच गोत्र, उद्योत नामकर्म तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क इन आठ प्रकृतियों को घटाने और आहारकद्विक को मिलाने से छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय हो सकता है और स्त्यानर्द्धित्रिक एवं आहारक-द्विक—इन पाँच प्रकृतियों के प्रमाद रूप होने से छठे गुणस्थान तक ही उदययोग्य रहती हैं, आगे के गुणस्थानों में उदय में नहीं आती हैं। अतः उक्त पाँच प्रकृतियों को कम करने से सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय होता है।

इस प्रकार अभी तक पहले से लेकर सातवें गुणस्थान तक उन-उन गुणस्थानों के योग्य उदय प्रकृतियों की संख्या और उनके अन्तिम समय में उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बताये जा चुके हैं। अब आगे की गाथाओं में आठवें—अपूर्वकरण गुणस्थान से

सातावेदनीय और असातावेदनीय में से कोई एक, कुल ३० प्रकृतियों का उदयविच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्त में हो जाने से सुभग नामकर्म, आदेय नामकर्म, यशःकीर्ति नामकर्म, वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक, त्रसत्रिक, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, जिन नामकर्म और उच्चगोत्र—इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है। इसके बाद इनका भी अन्त हो जाता है।

विशेषार्थ—ऊपर की गाथाओं में तेरहवें—सयोगि केवली गुणस्थान और चौदहवें—अयोगि केवली गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उन-उनके अंतिम समय में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियों का उदय रहता है। इनमें से ३० प्रकृतियों का तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उदयविच्छेद हो जाता है। इन व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में से साता वेदनीय और असाता वेदनीय में से कोई एक वेदनीय कर्म प्रकृति है और शेष बची २९ प्रकृतियाँ पुद्‌गलविपाकिनी (पुद्‌गल द्वारा विपाक का अनु भव कराने वाली) हैं। इनमें से सुस्वर नामकर्म और दुःस्वर नामकर्म यह दो प्रकृतियाँ भाषा पुद्‌गलविपाकिनी और शेष औदारिकद्विक आदि २७ प्रकृतियाँ शरीर पुद्‌गलविपाकिनी हैं।

पुद्‌गलविपाकिनी प्रकृतियाँ योग के सद्‌भाव रहने पर फल का अनुभव कराती हैं। इसलिए जब तक वचनयोग की प्रवृत्ति रहती है और भाषा पुद्‌गलों का ग्रहण, परिणमन होता रहता है, तब तक ही सुस्वर नाम और दुःस्वर नाम कर्म का उदय संभव है और जब तक

लेकर ग्यारहवें—उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के उदय आदि को समझाते हैं।

सम्मत्तंतिमसंघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥ १८ ॥

संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहमंमि तुरियलोभंतो।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥ १६ ॥

गाथार्थ—सम्यक्त्व मोहनीय और अन्त के तीन संहनन का अन्त होने से अपूर्वकरण गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय तथा इनमें से हास्यादिषट्क का अन्त होने से ६६ प्रकृतियों का उदय अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान में होता है। वेदत्रिक और संज्वलनत्रिक कुल छह प्रकृतियों का विच्छेद नौवें अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से दसवें—सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में ६० प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं तथा संज्वलन लोभ का दसवें गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से ग्यारहवें—उपशान्त मोह० गुणस्थान में ५९ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं तथा इन ५९ प्रकृतियों में से ऋषभनाराच संहननद्विक का विच्छेद ग्यारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और इन-इनके अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान श्रेणि आरोहण करने वाले मुनि के होते हैं और श्रेणी का आरोहण वह मुनि करता है, जिसके सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाता है, दूसरा नहीं।

काययोग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन लिया जाता है, तब तक औदारिक आदि २७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है लेकिन तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में योगों का निरोध हो जाता है। अतः २९ प्रकृतियों का उदय भी उसी समय रुक जाता है।

गाथा में इन २९ प्रकृतियों में से किसी-किसी के तो स्वतन्त्र नाम दिये हैं और शेष प्रकृतियों को संज्ञाओं द्वारा बतलाया है। संज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट प्रकृतियों के नाम और उनको गर्भित करने वाली संज्ञाएँ ये हैं—

औदारिकद्विक—औदारिक शरीर नामकर्म, औदारिक अंगोपांग नामकर्म।

अस्थिरद्विक—अस्थिर नामकर्म, अशुभ नामकर्म।

खगतिद्विक—शुभविहायोगति नाम, अशुभविहायोगति नामकर्म।

प्रत्येकत्रिक—प्रत्येक नामकर्म, स्थिर नामकर्म, शुभ नामकर्म।

संस्थानषट्क—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुंड।

अगुरुलघुचतुष्क—अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम और उच्छ्वास नाम।

वर्णचतुष्क—वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम, स्पर्श नाम।

उक्त संज्ञाओं के माध्यम से २३ प्रकृतियों के नाम बताये हैं और शेष छह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—निर्माण नाम, तैजसशरीर नाम, कार्मण शरीर नाम, वज्रऋषभनाराच संहनन, दुःस्वरनाम और सुस्वर नाम। ये २३+६ कुल मिलाकर २९ प्रकृतियां हो जाती हैं।

इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होने वाली ३० प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार समझना चाहिए—

जब एक सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक श्रेणि आरोहण नहीं किया जा सकता है। जो जीव सम्यक्त्व मोहनीय का उपशम करके श्रेणि आरोहण करता है, उसको औपशमिक श्रेणि वाला और क्षय करके श्रेणि आरोहण करता है उसको क्षपक श्रेणिवाला कहते हैं। अर्थात् सम्यक्त्व मोहनीय के उपशम से औपशमिक श्रेणि और क्षय से क्षायिक (क्षपक) श्रेणि कहलाती है।

इसीलिए सातवें गुणस्थान में उदय योग्य ७६ प्रकृतियों में से उसके अन्तिम समय में सम्यक्त्व मोहनीय का उदयविच्छेद हो जात है तथा श्रेणि आरोहण की क्षमता आदि के तीन संहनन वाले जीवों वे ही होती है और अन्तिम तीन संहनन वाले मंद विशुद्धि वाले होते हैं ए उनकी क्षमता श्रेणि आरोहण करने योग्य नहीं होती है। इसलि अन्तिम संहननत्रिक—अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन और सेवा संहनन—का उदयविच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम सम में हो जाता है।[1] इसलिए सातवें गुणस्थान की उदययोग्य ७६ प्रकृतियों में उक्त चार प्रकृतियों को कम करने से आठवें गुणस्थान में ७ प्रकृतियों का उदय होता है।

गुणस्थानों के बढ़ते क्रम के साथ आत्मा के परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। अतः नौवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में संक्लिष्ट परिणाम रूप प्रकृतियों का उदय होना भी न्यून से न्यूनतर होता जाता है। अतः इन गुणस्थानों में हास्य, रति आदि नोकषायों का उदय नहीं हो पाता है।

इसलिए आठवें गुणस्थान में उदययोग्य ७२ प्रकृतियों में से हास्यादि षट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह

---

१. तुलना करो—
अपमत्ते सम्मत्तं अंतिमतिय संहदी। —गो० कर्मकाण्ड २६८

औदारिकशरीर नाम, औदारिक अंगोपांग नाम, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति नाम, प्रत्येकनाम, स्थिर नाम, शुभ नाम, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, हुण्ड संस्थान, अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, वर्णनाम, गन्ध नाम, रस नाम, स्पर्शनाम, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वज्र-ऋषभनाराच संहनन, दुःस्वर नाम, सुस्वर नाम तथा साता और असाता वेदनीय में से कोई एक।[१]

इन पूर्वोक्त ३० प्रकृतियों को तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से कम करने पर शेष रही १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में रहता है। उनके नाम ये हैं—सुभग नाम, आदेय नाम, यशःकीर्ति नाम, वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक, अर्थात् सातावेदनीय और असातावेदनीय में से कोई एक[२], त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्त नाम, पंचेन्द्रिय जाति नाम, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थङ्कर नाम और उच्चगोत्र।[3]

---

१. तुलना करो—
तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगदिउरालतेजदुग्गं।
संठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥ —गो० कर्मकाण्ड २७१

२. चौदहवें गुणस्थान में किसी भी जीव को वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों का एक साथ उदय नहीं होता है। अतः जिस जीव को उन दोनों में से जिस प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस जीव को उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदयविच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पाया जाता है।

३. तुलना करो—तदियेक्कं मणुवगदी पंचिदयसुभगतसतिगादेज्ज।
जसतित्थं मणुवाउ उच्चं च अजोगिचरिमम्हि ॥ —गो. क. २७२

प्रकृतियों का आठवें गुणस्थान के चरम समय में उदयविच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान में सिर्फ ६६ प्रकृतियों का ही उदय हो सकता है। यद्यपि ६६ प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में होता है लेकिन परिणामों की विशुद्धि क्रमशः बढ़ती ही जाती है, जिससे वेद-त्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद तथा संज्वलन कषायत्रिक—संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया—कुल छह प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है।[1] अतः नौवें गुणस्थान में उदय योग्य ६६ प्रकृतियों में से वेदत्रिक और संज्वलन कषायत्रिक कुल छह प्रकृतियों को कम करने पर दसवें गुणस्थान में साठ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य रह जाती हैं। दसवें गुण-स्थान में उदययोग्य इन साठ प्रकृतियों में से संज्वलन लोभ का उदय दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है और उसके बाद विच्छेद हो जाता है। अतः उक्त ६० प्रकृतियों में से संज्वलन लोभ कषाय को कम करने से शेष ५९ प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में पाया जाता है और इन उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से

---

1. नौवें गुणस्थान में वेदत्रिक आदि छह प्रकृतियों के उदय विच्छेद का क्रम इस प्रकार होता है—यदि श्रेणि का प्रारंभ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्री-वेद का, अनन्तर पुरुषवेद का और उसके बाद नपुंसकवेद का उदयविच्छेद करती है। अनन्तर क्रमशः संज्वलनत्रिक के उदय को रोकती है। यदि श्रेणि प्रारंभ करने वाला पुरुष है तो वह सर्वप्रथम पुरुषवेद, पीछे स्त्रीवेद और उसके बाद नपुंसकवेद का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलनत्रिक का उदय रोकता है और श्रेणि को करने वाला यदि नपुंसक है तो पहले नपुंसक वेद का उदय रोककर उसके बाद स्त्रीवेद के उदय को, तत्पश्चात् पुरुषवेद को रोककर क्रमशः संज्वलनत्रिक के उदय को रोकता है।

इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है और इसके रुक जाते ही जीव कर्ममुक्त होकर पूर्ण सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को चला जाता है।[1] अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार का परिभ्रमण सदा-सदा लिए रुक जाता है और 'स्वानुभूत्या चकासते' अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से सदैव प्रकाशमान रहता है।

सारांश यह है कि तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उनमें से ३० प्रकृतियों का विच्छेद उस गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है। इन विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में से २९ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं, अर्थात् औदारिकद्विक आदि जो २९ प्रकृतियाँ हैं वे काययोग और वचनयोग के माध्यम से अपना उदय कर सकती हैं। लेकिन तेरहवें गुणस्थान के अंत में इन योगों का अभाव हो जाता है। अतः कारण के न रहने पर उन प्रकृतियों का भी विच्छेद हो जाता है।

उक्त ३० प्रकृतियों में वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों में से एक प्रकृति को भी ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि साता या असातावेदनीय कर्म का एक साथ उदय होना सम्भव नहीं है। दोनों से किसी एक का उदय रहेगा। अतः जिसका उदय उस समय हो, उसका भी विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में होना

---

१. मोक्ष की असाधारण कारणभूत पुण्योदयात्मक प्रकृतियाँ प्रायः चौदहवें गुणस्थान तक उदय में रहती हैं इसलिए वहाँ तक संसारी अवस्था मानी जाती है। अनन्तर सिद्धावस्था होती है अर्थात् एक भी कर्म उदय या सत्ता में नहीं रहता है। सत्ता में भी चौदहवें गुणस्थान में प्रायः यही १२ [illegible] मानी जाती है।

ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन इन दो संहननों का अन्त ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है।[1] क्योंकि उपशम श्रेणि ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और उस श्रेणि का आरोहण करने वाले आदि के तीनों संहनन वाले हो सकते हैं। अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहनन, ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन—इन संहननों में से किसी भी संहनन वाला जीव श्रेणि आरोहण कर सकता है। किन्तु क्षपक श्रेणि तो वज्रऋषभनाराच संहनन वाला ही करता है। इसलिए बारहवें गुणस्थान में एक—वज्रऋषभनाराच संहनन ही होता है और शेष रहे दो संहननों—ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन—का ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान वाला तो निश्चय से गिरता है और उसी में काल करे तो अनुत्तर विमान में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती देव होता है। वह बारहवें गुणस्थान में नहीं पहुँचता है। दसवें गुणस्थान वाला क्षायिक ही बारहवें गुणस्थान पर आरोहण करता है। क्षीणमोह वाले को ऋषभनाराच और नाराच संहनन का उदय होता ही नहीं, क्योंकि वे सत्ता में ही नहीं हैं।

---

१. तुलना करो—

..................अपुव्वम्हि ।
छच्चेव णोकसाया अणियट्टीभागभागेसु ॥
वेदतिय कोहमाणं मायासंजलणमेव सुहुमंते ।
सुहुमो लोहो संते वज्जंणारायणारायं ॥

—गो० कर्मकाण्ड २६८-२६९

औदारिकशरीर नाम, औदारिक अंगोपांग नाम, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति नाम, प्रत्येकनाम, स्थिर नाम, शुभ नाम, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, हुण्ड संस्थान, अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, वर्णनाम, गन्ध नाम, रस नाम, स्पर्श नाम, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वज्रऋषभनाराच संहनन, दुःस्वर नाम, सुस्वर नाम तथा साता और असाता वेदनीय में से कोई एक।[1]

इन पूर्वोक्त ३० प्रकृतियों को तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से कम करने पर शेष रही १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में रहता है। उनके नाम ये हैं—सुभग नाम, आदेय नाम, यशःकीर्ति नाम, वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक, अर्थात् सातावेदनीय और असातावेदनीय में से कोई एक[2], त्रसनाम, वादरनाम, पर्याप्त नाम, पंचेन्द्रिय जाति नाम, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थङ्कर नाम और उच्चगोत्र।[3]

---

१. तुलना करो—
तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगदिउरालतेजदुग्गं।
संठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥　　　　—गो० कर्मकाण्ड २७१

२. चौदहवें गुणस्थान में किसी भी जीव को वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों का एक साथ उदय नहीं होता है। अतः जिस जीव को उन दोनों में से जिस प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस जीव को उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदयविच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पाया जाता है।

३. तुलना करो—तदियेक्कं मणुवगदी पंचिदयसुभगतसतिगादेज्ज।
जसतित्थं मणुवाउ उच्चं च अजोगिचरिमम्हि ॥ —गो. क. २७२

सारांश यह है कि सातवें गुणस्थान के आगे कर्मों के क्षय की गति तीव्र हो जाती है और कर्मक्षय में तीव्रता भी आती है, जब सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करके श्रेणि आरोहण होता है। सम्यक्त्व मोहनीय के उपशम से उपशम श्रेणि और क्षय से क्षपक श्रेणि होती है। उपशम श्रेणि का आरोहण करने वाले मुनि के आठ, नौ, दस और ग्यारह ये चार गुणस्थान होते हैं और क्षपक श्रेणि करने वाले के आठ, नौ, दस और बारह ये चार गुणस्थान होते हैं। उपशम श्रेणि वाला ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर भी जिस क्रम से आगे-आगे के गुणस्थान प्राप्त करता है, उसी क्रम से च्युत होकर गुणस्थानों का अव-रोहण करता है। किन्तु क्षपक श्रेणि को मांडनेवाला एक के बाद एक गुणस्थान पर बढ़ता जाता है और पुनः नहीं लौटता है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध परमात्मा हो जाता है।

श्रेणि का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होता है। आठवें गुणस्थान में सातवें गुणस्थान की उदययोग्य ७६ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व मोहनीय और अन्तिम संहननत्रिक कुल चार प्रकृतियों का सातवें गुणस्थान के चरम समय में उदय-विच्छेद हो जाने से ७२ प्रकृतियों का उदय होता है।

नौवें से लेकर आगे के गुणस्थानों में अध्यवसायों की विशुद्धता बढ़ती जाती है, अतः आठवें गुणस्थान की उदययोग्य ७२ प्रकृतियों में से उसके ही अन्तिम समय में हास्यादि षट्क विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का उदय माना जाता है। यद्यपि नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ प्रकृतियों का उदय होता है, लेकिन परि-णामों की विशुद्धता की वृद्धि से वेदत्रिक और संज्वलनत्रिक कुल छह प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव

इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है और इसके रुक जाते ही जीव कर्ममुक्त होकर पूर्ण सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर अनन्त शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को चला जाता है।[1] अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार का परिभ्रमण सदा-सदा लिए रुक जाता है और 'स्वानुभूत्या चकासते' अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से सदैव प्रकाशमान रहता है।

सारांश यह है कि तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उनमें से ३० प्रकृतियों का विच्छेद उस गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है। इन विंच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में से २६ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी हैं, अर्थात् औदारिकद्विक आदि जो २६ प्रकृतियाँ हैं वे काययोग और वचनयोग के माध्यम से अपना उदय कर सकती हैं। लेकिन तेरहवें गुणस्थान के अंत में इन योगों का अभाव हो जाता है। अतः कारण के न रहने पर उन प्रकृतियों का भी विच्छेद हो जाता है।

उक्त ३० प्रकृतियों में वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों में से एक प्रकृति को भी ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि साता या असातावेदनीय कर्म का एक साथ उदय होना सम्भव नहीं है। दोनों से किसी एक का उदय रहेगा। अतः जिसका उदय उस समय हो, उसका भी विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में होना

---

१. मोक्ष की असाधारण कारणभूत पुण्योदयात्मक प्रकृतियाँ प्रायः चौदहवें गुण-स्थान तक उदय में रहती हैं इसलिए वहाँ तक संसारी अवस्था मानी जाती है। अनन्तर सिद्धावस्था होती है अर्थात् एक भी कर्म उदय या सत्ता में नहीं रहता है। सत्ता में भी चौदहवें गुणस्थान में प्रायः यही १२ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं।

दसवें गुणस्थान में सिर्फ ६० प्रकृतियों का ही उदय रह जाता है।

दसवें गुणस्थान में जो ६० प्रकृतियों का उदय वताया है, उनमें से संज्वलन लोभ का उदय दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। अतः संज्वलन लोभ को छोड़कर शेष ५९ प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में माना जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान को तो आदि के तीन संहननों में से कोई एक संहनन वाला जीव प्राप्त कर सकता है। किन्तु बारहवें गुणस्थान को तो वज्रऋषभनाराच संहनन वाला ही प्राप्त करता है। अतः ग्यारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन इन दो प्रकृतियों का उदयविच्छेद भी ग्यारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान के बाद वारहवाँ—क्षीणकषाय—वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान का क्रम है। अतः उसमें उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उसके अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम सहित तेरहवें—सयोगि केवलि गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या का निर्देश आगे की गाथा में करते हैं।

सगवन्न खीण दुचरमि निद्दुगंतो य चरमि पणपन्ना।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥

गाथार्थ—क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय रहता है। इन ५७ प्रकृतियों का उदय द्विचरम समय पर्यन्त पाया जाता है और निद्राद्विक का अन्त होने से अन्तिम समय में ५५ प्रकृतियों का उदय रहता है। पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार

समझ लेना चाहिए। बाकी रही वेदनीय कर्म की एक प्रकृति का विच्छेद चौदहवें गुणस्थान में होता है।

तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से ३० प्रकृतियों का अन्त तो तेरहवें गुणस्थान में ही हो जाता है और ४२ में से ३० प्रकृतियों के घटने पर बाकी बची १२ प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में अन्त होती हैं। जब ये प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं तो आत्मा निष्कर्म होकर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता ही मोक्ष प्राप्त कर लेना है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों कर्म प्रकृतियों के उदय उदय-विच्छेद का कथन कर लेने के बाद गुणस्थानों में कर्मों की उदीरणा का वर्णन करते हैं।

यद्यपि उदीरणा और उदय में समानता है। दोनों अवस्थाओं में यथायोग्य प्रकृतियों का विच्छेद होता है लेकिन उदीरणा में यह विशेषण है कि अध्यवसाय विशेष से आत्मा कर्मों को उनका उदय-काल प्राप्त न होने पर भी उनको उदयावलि में लाकर वेदन कर नष्ट कर देता है। अतः किस गुणस्थान में किन कर्म प्रकृतियों की उदीरणा होती है, आदि का कथन आगे की गाथाओं में करते हैं।

उदउ व्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥२३॥
एसा पयडि—तिगूणा वेयणियाऽहारजुगल थीण तिगं।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥२४॥

गाथार्थ—उदय के समान उदीरणा होती है; तथापि अप्रमत्तादि सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेषता है। उदीरणा तीन प्रकृतियों की कम होती है।

दर्शनावरण का अन्त बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है एवं सयोगि केवली गुणस्थान में ४२ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

विशेषार्थ—गाथा में बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाकर बाद में अन्त होने वाली प्रकृतियों के नाम व तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाई है।

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि बारहवाँ गुणस्थान क्षपक श्रेणि का आरोहण करने वाले प्राप्त करते हैं और क्षपक श्रेणि का आरोहण करने वाले वज्रऋषभनाराच संहनन धारी जीव होते हैं, जबकि उपशम श्रेणि का आरोहण आदि के तीन संहननों में से कोई भी संहनन वाला कर सकता है। अतः बारहवाँ गुणस्थान क्षपक श्रेणि की अपेक्षा से है और इसीलिए ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन इन दो संहननों का ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है। जिससे ग्यारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से उक्त दो प्रकृतियों को कम करने से बारहवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय माना जाना चाहिए।

परन्तु इन ५७ प्रकृतियों का उदय भी बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय पर्यन्त पाया जाता है। क्योंकि निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नहीं होता है। इसलिए इन दो प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है।[1]

उक्त ५५ प्रकृतियों में से भी ज्ञानावरण पंचक—मतिज्ञानावरण,

१. कितनेक आचार्यों का मत है कि उपशान्तमोहनीय गुणस्थान में ही निद्रा का उदय होता है, किन्तु विशुद्ध होने से क्षीणमोह गुणस्थान में उदय नहीं

वेदनीयद्विक, आहारकद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक और मनुष्यायु इन आठ का प्रमत्त गुणस्थान में अन्त हो जाता है और अयोगि केवली भगवान अनुदीरक होते हैं, अर्थात् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में उदय और उदीरणा प्रकृतियों की संख्या में किस गुणस्थान तक समानता और किस गुणस्थान से आगे भिन्नता है, बतलाया है और उस भिन्नता को कारण सहित स्पष्ट करते हुए चौदहवें अयोगि केवली गुणस्थान में जैसे कर्म प्रकृतियों का उदय नहीं रहता है, वैसे ही कर्मों की उदीरणा का भी अभाव होना स्पष्ट किया गया है।

यद्यपि गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों की उदीरणा उदय के समान है, अर्थात् जिस गुणस्थान में जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय पहले बताया जा चुका है, उस गुणस्थान में उतनी ही कर्म प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है। लेकिन यह नियम पहले—मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे—प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक समझना चाहिए, और आगे सातवें—अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर तेरहवें—सयोगि केवली गुणस्थान तक—इन सात गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेषता होती है।

इस विशेषता का कारण यह है कि छठे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियाँ ८१ बतलाई गई हैं और उसके अन्तिम समय में आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग तथा स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि—इन ५ प्रकृतियों का विच्छेद होता है। लेकिन उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक—साता वेदनीय, असाता वेदनीय और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों

श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, तथा अन्तराय पंचक—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय और दर्शनावरण चतुष्क-चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण और केवल-दर्शनावरण, कुल मिलाकर उक्त चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नहीं होता है।[1] अर्थात् तेरहवें आदि गुणस्थानों में इन प्रकृतियों का उदय नहीं होता है, किन्तु बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ही इनका विच्छेद हो जाता है। अतः तेर-हवें सयोगि केवली गुणस्थान में ४१ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जानी चाहिए थीं।

लेकिन तेरहवें गुणस्थान की कुछ अपनी विशेषता है और वह विशेषता यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों को होता है।[2] अन्य गुणस्थानों में तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त उदययोग्य ४१ प्रकृ-तियों के साथ एक तीर्थङ्कर नामकर्म को मिलाने से कुल ४२ प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में माना जाता है। गाथा में तेरहवें गुण-स्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बताई है। उनमें तीर्थङ्कर

होता है। उनके मतानुसार पहले से ही ५५ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान में होता है। छठे कर्मग्रन्थ में भी क्षीण मोहनीय गुणस्थान में निद्रा का उदय नहीं बताया गया है।

१. तुलना करो—

खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य उदयवोच्छिण्णा।
णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि ॥

—गो० कर्मकाण्ड २७०

२. तित्थं केवलिणि।

का उदीरणा-विच्छेद भी होता है। छठे गुणस्थान से आगे के गुणस्थान में ऐसे अध्यवसाय नहीं होते हैं, जिससे वेदनीयद्विक और मनुष्यायु— इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा हो सके।[1] इसीलिए सातवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक उदययोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणायोग्य प्रकृतियों में तीन प्रकृतियाँ कम मानी जाती हैं।

उक्त कथन का यह आशय है कि पहले से छठे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ समान हैं, किन्तु सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय योग्य प्रकृतियों की अपेक्षा तीन-तीन प्रकृतियाँ उदीरणायोग्य कम होती हैं। अतः पहले से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक उदय और उदीरणायोग्य प्रकृतियों की संख्या निम्नप्रकार समझना चाहिए—

गुणस्थानक्रम	उदय प्रकृतिसंख्या	उदीरणा संख्या
१	११७	११७
२	१११	१११
३	१००	१००
४	१०४	१०४
५	८७	८७
६	८१	८१
७	७६	७३
८	७२	६९
९	६६	६३

१. संक्लिष्ट परिणामों से ही इन तीनों की उदीरणा होती है, इस कारण अप्रमत्तादि गुणस्थानों में इन तीनों की उदीरणा होना असंभव है।

१०	६०	५७
११	५९	५६
१२	५७/५५	५४/५२
१३	४२	३९
१४	१२	×

बारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५७ प्रकृतियाँ हैं, जिनका उदय द्विचरम समय पर्यन्त माना जाता है। अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय पर्यन्त माना जाता और अन्तिम समय में निद्राद्विक का उदय नहीं रहता है, इसलिए पूर्वोक्त ५७ प्रकृतियों में से निद्राद्विक को कम करने से ५५ प्रकृतियों का उदय रहता है। इसलिए द्विचरम समय से पूर्व की ५७ प्रकृतियों में से वेदनीयद्विक और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों को कम करते हैं तो उदीरणायोग्य प्रकृतियाँ ५४ और अन्तिम समय की उदययोग्य ५५ प्रकृतियों में से उक्त तीन प्रकृतियों के कम करने पर ५२ प्रकृतियाँ उदीरणायोग्य रहती हैं। इसीलिए बारहवें गुणस्थान में क्रमशः उदययोग्य ५७ और ५५ तथा उदीरणायोग्य ५४ और ५२ प्रकृतियों को बतलाया है।

कर्म प्रकृतियों की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त ही समझना चाहिए। चौदहवें—अयोगिकेवली गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती है।[1] इस गुणस्थान में उदीरणा न होने का कारण यह है कि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, परन्तु चौदहवें गुण-

---

१. तुलना करो—

णत्थित्ति अजोगिजिणे उदीरणा उदयपयडीणं।

—गो० कर्मकाण्ड २८०

१४७ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है। सामान्य की अपेक्षा यह कथन ठीक भी है। लेकिन चौथे से लेकर आगे के गुणस्थानों में वर्तमान जीवों के अध्यवसाय विशुद्धतर होने से कर्म प्रकृतियों की सत्ता कम होती जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर चौथे आदि से लेकर आगे के गुणस्थानों में सत्ता को समझाते हैं।

पंचसंग्रह का सिद्धान्त है कि जो जीव अनन्तानुवन्धी कषाय-चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता, वह उपशम श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता तथा यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि नरक की अथवा तिर्यंच की आयु को बांधकर जीव उपशम श्रेणि को नहीं कर सकता है अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क का विसंयोजन करने पर तथा नरक व तिर्यंच आयु का बंध न करने वाला जीव ही उपशमश्रेणि का प्रारम्भ करता है, यानी जो जीव अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना कर और देवायु को बाँधकर उपशम श्रेणि को करता है, ऐसे जीव को आठवें आदि चार गुणस्थानों में १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुवंधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक---मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन सात कर्म प्रकृतियों का जिन्होंने क्षय किया है, यानी जो जीव क्षायिक सम्यक्त्वी हैं, उनकी अपेक्षा चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है।

यह १४१ प्रकृतियों की सत्ता बिना श्रेणि वाले क्षायिक सम्यक्त्वी को समझनी चाहिए तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं, अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते हैं, किन्तु जिनको मोक्ष के लिए जन्मान्तर लेना बाकी है, उन जीवों की

स्थान में योग का सर्वथा निरोध हो जाता है अतः इस गुणस्थान में कर्मों की उदीरणा भी नहीं मानी जाती है।

सारांश यह है कि गुणस्थानों में पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक उदय और उदीरणायोग्य प्रकृतियों की संख्या एक समान है। लेकिन छठे गुणस्थान में वेदनीयद्विक और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा भी हो सकती है और जिसका कारण संक्लिष्ट परिणाम है और आगे के सातवें से तेरहवें गुणस्थान तक संक्लिष्ट परिणामों का अभाव हो जाता है, इसलिए उदीरणा नहीं होती है। इस कारण सातवें आदि आगे के गुणस्थानों में उदययोग्य तीन प्रकृतियों को उन-उन गुणस्थानों की उदययोग्य प्रकृतियों में से कम कर लेना चाहिए और इससे जो संख्या आये वह उस गुणस्थान की उदीरणा प्रकृतियों की संख्या समझना चाहिए।

चौदहवें गुणस्थान में योग का निरोध हो जाने से वहां कर्मों की उदीरणा नहीं होती है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मों की उदीरणा का कथन कर अब आगे की गाथाओं में कर्मों की सत्ता का लक्षण तथा किस गुणस्थान में कितनी कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है, आदि बतलाते हैं।

सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं।
संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥२५॥

गाथार्थ—बंधादिक के द्वारा कर्मयोग्य जिन पुद्गलों ने अपने स्वरूप को प्राप्त किया है, उन कर्मों का आत्मा के साथ लगे रहने को सत्ता कहते हैं। पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है, किन्तु दूसरे व तीसरे

अपेक्षा से १४१ कर्म प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिए। लेकिन जो चरम शरीरी क्षायिक सम्यक्त्वी हैं, उनको मनुष्य आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न संभवसत्ता ही है।

सारांश यह है कि श्रेणि नहीं मांड़ने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी जीवों के चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में सामान्य से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है, यह कथन अनेक जीवों की अपेक्षा से है तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को प्राप्त करने वाले नहीं ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा से भी १४१ प्रकृतियों की सत्ता उक्त चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में मानी गई है।

उपशम श्रेणि आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों तक मानी जाती है। अर्थात् यह चार गुणस्थान उपशम श्रेणि के होते हैं और उपशम श्रेणि अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का विसंयोजन करने से तथा नरक और तिर्यंच आयु को नहीं बाँधने वाले यानी सिर्फ देवायु का बन्ध करने वाले को होती है। अतः सामान्य से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और नरक व तिर्यंचायु कुल छह प्रकृतियों को कम करने पर १४२ प्रकृतियों की सत्ता उपशम श्रेणि मांडने वाले जीवों को आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में मानी जाती है।

इस प्रकार चौथे से लेकर उपशम श्रेणि के गुणस्थानों पर्यन्त सामान्य से सत्ता प्रकृतियों का वर्णन करके अब क्षपक श्रेणि की अपेक्षा कर्मों की सत्ता का कथन आगे की गाथा में करते हैं।

गुणस्थान में जिन-नामकर्म के सिवाय शेष १४७ प्रकृतियों की होती है।

विशेषार्थ—गाथा में सत्ता का लक्षण और पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सत्ता प्रकृतियों की संख्या तथा दूसरे, तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न होने का संकेत किया है।

'बंधाइ लद्ध अत्तलाभाणं' बंधादिक द्वारा प्राप्त किया है आत्मलाभ--आत्मस्वरूप जिनने—जिन कर्मों ने—वे बंधादिक के द्वारा स्वस्वरूप को प्राप्त हुए 'बंधादि लब्धात्म-लाभानां—'कम्माण—कर्मणां' कर्मों की, 'ठिइ—स्थितिः' स्थिति—कर्म परमाणुओं का अवस्थान, सद्भाव, विद्यमानता सत्ता कहलाती है। यहाँ 'बंध आदि' शब्द में आदि शब्द से संक्रमण आदि का ग्रहण कर लेवें। अर्थात् बंध के समय जो कर्म पुद्गल जिस कर्म स्वरूप में परिणत होते हैं, उन कर्म पुद्गलों का उसी कर्म स्वरूप में आत्मा के साथ लगे रहना यह कर्मों की सत्ता कहलाती है। इसी प्रकार उन्हीं कर्म पुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड़कर दूसरे कर्म स्वरूप में बदल आत्मा में संलग्न रहना भी सत्ता कहलाती है। इनमें प्रथम प्रकार की सत्ता को बंध सत्ता के नाम से और दूसरे प्रकार की सत्ता को संक्रमण सत्ता के नाम से समझना चाहिए।

आत्मा के साथ जब मिथ्यात्वादि कारणों से जो पुद्गल स्कन्ध संबद्ध हो जाते हैं, उस समय से उनको 'कर्म' ऐसा कहने लगते हैं और तब से आत्मा के साथ उनकी विद्यमानता—उस कर्म की सत्ता मानी जाती है। जैसे कि नरकगति का बन्ध हुआ और उदय में आकर जब तक उसकी निर्जरा न हो जाए, तब तक नरकगति नामकर्म की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि बंध द्वारा उन कर्म पुद्गलों ने नरकगति नामकर्म के रूप में अपना आत्मस्वरूप प्राप्त किया है। अतः नरक-

खवगं तु पप्प चउसु वि पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा।
सत्तग विणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

गाथार्थ—क्षपक जीवों की अपेक्षा से चार गुणस्थानों में नरक, तिर्यंच और देवायु—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ प्रकृतियों की तथा सप्तक के विना १३८ प्रकृतियों की सत्ता अनिवृत्ति गुणस्थान के पहले समय तक होती है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में उपशम श्रेणि की अपेक्षा से कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाई गई है। अव इस गाथा में क्षपक श्रेणि की अपेक्षा से कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाते हैं और यह सत्ता नौवें—अनिवृत्ति वादर संपराय गुणस्थान तक समझना चाहिए।

जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपक श्रेणि को मांडने वाले हैं और चरम शरीरी हैं, अर्थात् अभी तो जो औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी हैं, लेकिन क्षपक श्रेणि को अवश्य ही मांड़ने वाले तथा क्षपक श्रेणि कर इसी जन्म में मोक्ष पाने वाले हैं, उनको मनुष्यायु की ही सत्ता रहती है। अन्य तीन आयुओं की सत्ता नहीं रहती है और न उनकी सम्भव-सत्ता भी है। इसलिए इस प्रकार के क्षपक जीवों की अपेक्षा चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु को सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से कम करने पर १४५ कर्म प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

लेकिन जो क्षायिक सम्यक्त्वी हैं और चरम शरीरी हैं। इसी जन्म में ही मोक्ष जाने वाले हैं। अर्थात् अनन्तानुवन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय करने से जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त है और इस भव के वाद दूसरा भव नहीं करना है, ऐसे जीव चौथे गुणस्थान से ही क्षायिक सम्यक्त्वी होकर क्षायिक श्रेणि करते हैं तो उन जीवों

गति की सत्ता मानी जाती है। इसी प्रकार यदि तिर्यंचगति नामकर्म ने तिर्यंचगति नामकर्म के रूप में अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया हो तो उसकी सत्ता मानी जाती है।

कदाचित् नरकगति नामकर्म तिर्यंचगति नामकर्म में संक्रमित हो जाए तो नरकगति ने जो बंध द्वारा स्वस्वरूप प्राप्त किया था, उसमें तिर्यंचगति नामकर्म का संक्रमण होने से तिर्यंचगति ने संक्रमण द्वारा अपना स्वरूप प्राप्त किया और उसकी सत्ता कायम रही। परन्तु नरकगति नामकर्म की सत्ता जो बन्ध से उत्पन्न हुई थी, उसका संक्रमण हो जाने से उसकी सत्ता व्युच्छिन्न हो गई और तिर्यंचगति की सत्ता कायम रही। इसी प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता बंध से होती है और सम्यक्त्व मोहनीय तथा मिश्र मोहनीय की सत्ता मिथ्यात्व की स्थिति और रस के अपवर्तन से नवीन ही होती है और परस्पर में संक्रमित होने से एक दूसरे की सत्ता नष्ट भी होती है।

सत्ता के दो भेद हैं—सद्भाव-सत्ता और संभव-सत्ता। अमुक समय में कितनी ही प्रकृतियों की सत्ता न होने पर भी भविष्य में उनके सत्ता में होने की संभावना मानकर जो सत्ता मानी जाती है, उसे संभव सत्ता कहते हैं और जिन प्रकृतियों की उस समय सत्ता होती है, उसे सद्भाव (स्वरूप) सत्ता कहते हैं।

जैसे कि नरकायु और तिर्यंचायु की सत्ता वाला उपशम श्रेणि को नहीं मांड़ता है। फिर भी ग्यारहवें गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, तो उसका कारण यह है कि पहले यदि देवायु अथवा मनुष्यायु बाँधी हो तो उस-उस की सद्भाव सत्ता मानी जाएगी परन्तु उक्त नरक और तिर्यंच—इन दो आयुओं की सद्भाव सत्ता नहीं मानी जाएगी। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर बाद में उन

की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय होने से तथा वर्तमान मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयु—नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु की भी सत्ता न होने से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से उक्त दस प्रकृतियों को कम करने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। यह १३८ प्रकृतियों की सत्ता चौथे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त समझना चाहिए।

परन्तु जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकते, अर्थात् अचरम शरीरी हैं, उनमें से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी, कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी और कुछ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी होते हैं। पच्चीसवीं गाथा में जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, सो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तथा औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से समझना चाहिए तथा छब्बीसवीं गाथा में जो १४१ प्रकृतियों की सत्ता कही है, वह क्षायिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को यद्यपि एक साथ सब आयुओं की सत्ता नहीं होती है, लेकिन उनकी सत्ता होना सम्भव रहता है, इसलिए उसको सब आयुओं की सत्ता मानी जाती है।

सारांश यह है कि सामान्य से १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं और दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, लेकिन पहले और चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, वह सम्भव-सत्ता की अपेक्षा से मानी जाती है। क्योंकि उपशम श्रेणि मांड़ने वाले के ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने की सम्भावना रहती है और जिस क्रम से गुणस्थानों का आरोहण किया था, उसी क्रम से

दो आयुओं को बाँधने वाला हो तो उस अपेक्षा से सत्ता मानने पर उसे संभव-सत्ता कहा जाता है।

संभव-सत्ता और सद्भाव-सत्ता में भी पूर्व वद्धायु और अवद्धायु ऐसे दो प्रकार होते हैं और उनमें भी पृथक्-पृथक् अनेक जीवों की अपेक्षा से और एक जीव की अपेक्षा से विचार किया जाता है तथा उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों में भी अनन्तानुबंधी के विसंयोजक एवं अविसंयोजक के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों में भी अनन्तानुवन्धी के विसंयोजक एवं अविसंयोजक के आश्रय से और क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी विचार किया जाता है।

विसंयोजना करने वाले को विसंयोजक कहते हैं।[1] दर्शन-सप्तक की सात प्रकृतियों में से अनन्तानुवन्धी चतुष्क का क्षय हो और शेष तीन प्रकृतियों का क्षय नहीं हुआ हो, अर्थात् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म सत्ता में होने से उसका उदय हो, तव पुनः अनन्तानुवन्धी कषाय-चतुष्क का बन्ध हो तो जिस प्रकार क्षय होने पर पुनः वन्ध की संभावना वनी रहे, ऐसे क्षय को विसंयोजना कहते हैं। जिसका क्षय होने पर पुनः उस प्रकृति के वन्ध की संभावना ही न रहे तो उसे क्षय कहते हैं।

सत्ता में १४८ कर्म प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। मूल में कर्मों के आठ भेद हैं और उन-उनकी उत्तर प्रकृतियों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—

---

१. अनन्तानुवन्धी चतुष्क का क्षय हो, किन्तु मोहत्रिक सत्ता में हो, उसे विसंयोजना कहते हैं।

गिरते समय उन-उन गुणस्थानों को स्पर्श करते हुए पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है। इसीलिए वर्तमान में चाहे गुणस्थान के अनुसार कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो, लेकिन शेष प्रकृतियों की सत्ता होने की सम्भावना से १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

लेकिन चौथे गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। अर्थात् जो व्रतादि नहीं लेते हुए भी सम्यक् श्रद्धा वाले हैं, वे अविरत सम्यग्-दृष्टि कहलाते हैं। वे सम्यग्दृष्टि तीन प्रकार के होते हैं—उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि।

जो सम्यक्त्व की वाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करके सम्यक् दृष्टि वाले हैं, उन्हें उपशम सम्यग्दृष्टि तथा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से क्षययोग्य प्रकृतियों का क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों का उपशम करने से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है और उस प्रकार के सम्यग्दृष्टि वाले जीवों को क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जिन्होंने सम्यक्त्व की वाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त किया है, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

उक्त तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों में से उपशम और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तो उपशमश्रेणि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपक श्रेणि को मांड़ते हैं। जो जीव क्षपक श्रेणि मांड़ने वाले हैं, वे तो सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके आत्मस्वरूप में लीन हो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन उपशम श्रेणि वाले जीवों को यह सम्भव नहीं है, इसीलिए उनका पतन होना सम्भव है। श्रेणि का क्रम आठवें गुणस्थान से शुरू होता है।

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ६, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २८, (५) आयु ४, (६) नाम ९३, (७) गोत्र २, (८) अन्तराय ५।

इन सब भेदों ५+९+२+२८+४+९३+२+५ को मिलाने से कुल १४८ भेद हो जाते हैं। इसीलिए सत्ता में १४८ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं।

यद्यपि कर्मों के उदय के समय १२२ प्रकृतियाँ उदययोग्य बतलाई हैं। लेकिन सत्ता में १४८ प्रकृतियों को कहने का कारण यह है कि उदय के प्रकरण में पाँच बन्धनों और पाँच संघातनों की पृथ पृथक् विवक्षा नहीं करके उन दोनों की पाँच-पाँच प्रकृतियों कु मिलाकर दस प्रकृतियों का समावेश पाँच शरीर नामकर्म में कि गया था। इसी प्रकार उदय के समय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नाम कर्म की एक-एक प्रकृति विवक्षित की गई थी। परन्तु यहाँ कम की सत्ता बताने के प्रकरण में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामक की एक-एक प्रकृति के बजाय ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श नामकर्म गिने जाते हैं।

इस तरह उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में बंधन नामकर्म के पाँच[1] और संघातन नामकर्म के पांच[2] भेद—कुल दस भेद तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के सामान्य चार भेदों के स्थान पर इनके पूर्वोक्त

---

१. शरीर के ५ भेद हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण। इन में से प्रत्येक के साथ बन्धन शब्द जोड़ने से पाँच बन्धनों के नाम हो जाते हैं, जैसे—औदारिक बन्धन। इसी प्रकार दूसरे नाम समझ लेने चाहिए।
२. पूर्वोक्त पांच शरीर में से प्रत्येक के साथ संघातन शब्द जोड़ देने से

लेकिन जिन जीवों ने अभी कोई श्रेणि नहीं मांड़ी है और अभी चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान में वर्तमान हैं, ऐसे जीव यदि क्षायिक सम्यक्त्वी हैं और इसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाले नहीं हैं तो अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक—कुल सात प्रकृतियों का क्षय होने से चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त उनके १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि किसी भी अचरम शरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का संभव रहता है, इसीलिए उनको सब आयुओं की सत्ता मानी जाती है। इसलिए चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्वी जीव को १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

जो जीव वर्तमान काल में ही क्षपकश्रेणि कर सकते हैं और चरम शरीरी हैं, अर्थात् इसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं लेकिन अभी अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय नहीं किया है, उन जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि चरम शरीरी होने से उनके मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयुओं की सत्ता नहीं मानी जा सकती है और जिन्होंने उक्त अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है, उन जीवों के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है और यह सत्ता नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक पाई जाती है।

लेकिन जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपकश्रेणि नहीं कर सकते, यानी अचरम शरीरी हैं, उनमें से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी होते हैं और कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी तथा कुछ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी होते हैं। इनमें से क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्वी

वीस भेदों[1] को मिलाने से कुल १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती हैं। इन कर्म प्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या पहले कर्मग्रन्थ से जाननी चाहिए।

सामान्य से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियाँ हैं और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशान्त कषाय गुणस्थान तक कुल ग्यारह गुणस्थानों में से दूसरे सासादन और तीसरे मिश्र गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों में १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही जाती है। यह कथन योग्यता की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि किसी भी जीव के एक समय में भुज्यमान और वद्धमान इन दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता नहीं हो सकती। परन्तु योग्यता सव कर्मों की हो सकती है, जिससे बंधयोग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है, उसका भी वन्ध और सत्ता हो सके। अर्थात् वर्तमान में कर्म की सत्ता यानी स्वरूपसत्ता न होने पर भी उस कर्म को भविष्य में वँधने की योग्यता की संभावना—संभव-सत्ता की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती हैं।

संघातन के पाँच भेद होते हैं, जैसे—औदारिकसंघातन। इसी प्रकार दूसरे नाम भी समझने चाहिए।

1. वर्ण—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल। गंध—सुरभि, दुरभि। रस—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। स्पर्श—कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

पूर्वोक्त वंधन, संघातन और वर्णचतुष्क—ये सभी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। अतः इनके पूरे नामों को कहने के लिए प्रत्येक के साथ 'नामकर्म' यह शब्द जोड़ लेना चाहिए।

अचरम शरीरी जीवों की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है ।

इन १४८ प्रकृतियों में से जो जीव उपशम श्रेणि को प्रारम्भ करने वाले हैं और उपशम श्रेणि प्रारम्भ करने के लिए यह सिद्धान्त है कि जो अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क का विसंयोजन करता है तथा नरक व तिर्यंच आयु का जिसे बंध न हो वह उपशम श्रेणि प्रारम्भ कर सकता है, तो इस सिद्धान्त के अनुसार आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क तथा नरकायु और तिर्यंचायु—इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है ।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि सामान्य से चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है । लेकिन चौथे गुण-स्थानवर्ती—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के प्रकार से तीन प्रकार के होते हैं । इन तीनों में से जो अचरम शरीरी हैं और क्षपक श्रेणि नहीं कर सकते, उनको १४८ प्रकृतियों की सत्ता है । लेकिन जो देवायु का वन्ध कर उपशम श्रेणि को करते हैं, उनकी अपेक्षा १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है ।

चौथे से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव क्षायिक सम्यक्त्वी हैं, अर्थात् अनन्तानुवन्धी चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक—इन सात प्रकृतियों का क्षय किया है, उनकी अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है । यह १४१ प्रकृतियों की सत्ता अचरम शरीरी जीवों की अपेक्षा समझना चाहिए ।

लेकिन जो जीव वर्तमान जन्म में ही क्षपक श्रेणि कर सकते हैं, किन्तु अभी श्रेणि प्रारंभ नहीं की है, उनकी अपेक्षा वर्तमान आयु के

शंका—आठ कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृतियों में नामकर्म की १०३ प्रकृतियाँ पहले बतलाई हैं और यहाँ सत्ता की १४८ प्रकृतियों में नामकर्म की ९३ प्रकृतियों को ग्रहण किया है।

समाधान—यहाँ नामकर्म के ९३ भेद लेने का कारण यह है कि शरीर नामकर्म के समान बंधन नामकर्म के भी पाँच भेद ग्रहण किये हैं। वैसे बंधन नामकर्म के १५ भेद होते हैं और जब पाँच भेदों की बजाय उन १५ भेदों को ग्रहण किया जाए तो नामकर्म के १०३ भेद हो जायेंगे। तब १५८ कर्म प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जायेंगी।

मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध कर सकता है। इसलिए जब मिथ्यात्वी तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध ही नहीं कर सकता है तो उसके तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता कैसे मानी जा सकती है? इसका उत्तर यह है कि जिसने पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बन्ध कर लिया है और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पाकर तीर्थङ्कर नामकर्म को भी बाँध लिया है, वह जीव नरक में जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य प्राप्त करता है, ऐसे जीव की अपेक्षा से ही पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी जाती है। अर्थात् मनुष्य ने पूर्व में मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बन्ध किया हो और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध करे तो वह जीव मरते समय सम्यक्त्व का वमन कर नरक में जाए तथा वहाँ पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसके पहले अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व रहता। अतः वहाँ तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

सिवाय शेष तीन आयु न होने पर १४५ प्रकृतियों की तथा अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक कुल सात प्रकृतियों का भी क्षय होने से तीन आयु और अनन्तानुबन्धी आदि सात कुल दस प्रकृतियों का क्षय होने से उनके १३८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। यह १३८ प्रकृतियों की सत्ता क्षपक श्रेणि आरोहण के समय में नौवें—अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान के पहले भाग तक समझना चाहिए।

इस प्रकार मोक्ष की कारणीभूत क्षपक श्रेणि वाले जीवों के नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त कर्मों की सत्ता बतलाई जा चुकी है। नौवें गुणस्थान के नौ भाग होते हैं। अतः आगे की दो गाथाओं में नौवें गुणस्थान के दूसरे से नौवें भाग पर्यन्त आठ भागों में प्रकृतियों की सत्ता को बतलाते हैं।

थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगल साहारं।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥२८॥
तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहिय सय कमसो।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥ २९ ॥

गाथार्थ—स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियजाति त्रिक और साधारण नामकर्म इन सोलह प्रकृतियों का नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से दूसरे भाग में एकसौ बाईस प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन एक सौ बाईस प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में

दूसरे और तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्कर नाम-कर्म को बाँध नहीं सकता है। क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता है, जिसके कारण तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधा जा सके और इसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म को बाँधकर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसीलिए दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म को छोड़कर १४७ प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है।

शंका—नरक और तिर्यंचायु का वन्ध करने वाला उपशम श्रेणि करता नहीं है तथा वन्ध और उदय के विना आयु कर्म की सत्ता होती नहीं तथा छठे कर्मग्रन्थ में भी आयुकर्म के भांगे किये हैं, वहाँ ८, ९, १०, ११ गुणस्थानों में नरक और तिर्यचायु की सत्ता नहीं वताई है तो फिर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता कैसे मानी जाती है?

समाधान—यद्यपि श्रेणि में नरक और तिर्यंचायु की सत्ता घटती तो नहीं है। फिर भी कोई जीव उपशम श्रेणि से च्युत होकर चारों गतियों का स्पर्श कर सकता है। अतः सम्भव-सत्ता की विवक्षा से यहाँ नरक और तिर्यंचायु की सत्ता की सम्भावना वतलाई जाती है। दर्शनमोह सप्तक को क्षय नहीं करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह को १४८ प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है।

सारांश यह है कि वन्धादिक के द्वारा जिन्होंने अपना स्वरूप प्राप्त किया है, ऐसे कर्मों की विद्यमानता को सत्ता कहते हैं। सत्ता-योग्य १४८ प्रकृतियाँ हैं जो उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से शरीर नामकर्म में गर्भित वन्धन और संघातन नामकर्म की पाँच-पाँच प्रकृतियों तथा वर्णचतुष्क की सामान्य चार प्रकृतियों में वर्ण, गन्ध, रस

हो जाने से तीसरे भाग में एक सौ चौदह प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसके बाद तीसरे से नौवें भाग तक क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय होने से एकसौ तेरह, बारह, छह, पाँच, चार और तीन प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

विशेषार्थ—नौवें गुणस्थान के नौ भाग होते हैं और इन नौ भागों में से पहले भाग में क्षपक श्रेणि की अपेक्षा से १३८ प्रकृतियों की सत्ता होने का कथन पहले की गाथा में हो चुका है। इन गाथाओं में उक्त गुणस्थान के शेष रहे दूसरे से नौवें भाग पर्यन्त कुल आठ भागों में क्रमशः क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम तथा सत्ता में रहने वाली प्रकृतियों की संख्या बतलाई गई है।

प्रथम भाग में जो १३८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, उनमें से स्थावरद्विक—स्थावर और सूक्ष्म नामकर्म, तिर्यचद्विक—तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकद्विक—नरकगति नरकानुपूर्वी, आतपद्विक—आतप नाम और उद्योत नामकर्म, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, एकेन्द्रिय जाति नाम, विकलेन्द्रिय त्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति नाम तथा साधारणनाम कर्म—इन सोलह प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाने पर प्रथम भाग में विद्यमान १३८ प्रकृतियों में से उक्त सोलह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

दूसरे भाग की इन १२२ प्रकृतियों की सत्ता में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध,

और स्पर्श के क्रमशः पाँच, दो, पाँच और आठ भेद मिलाने से अर्थात् सामान्य से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार के स्थान पर उन-उन के भेदों को मिलाने से कुल १४८ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। सामान्य से पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान पर्यन्त दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों में १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं तथा दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि इन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध नहीं होता है और जिसने तीर्थङ्कर नामकर्म बाँध लिया है, वह इन दो गुणस्थानों को प्राप्त नहीं करता है।

इस प्रकार सत्ता की परिभाषा और सामान्यतः तथा पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सत्तायोग्य प्रकृतियों का कथन करने के बाद आगे की गाथाओं में चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से प्रकृतियों की सत्ता का वर्णन करते हैं।

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियालसयं।
सम्माइ चउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्त-सयमहवा ॥२६॥

गाथार्थ—अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी चतुष्क और नरक व तिर्यंचायु—इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों, की तथा सप्तक का क्षय हुआ हो तो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले की गाथा में दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सामान्य से १४८ प्रकृतियों की सत्ता बतलाई है और दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में

माया, लोभ—इन आठ प्रकृतियों की सत्ता दूसरे भाग के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से तीसरे भाग में ११४ प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और उसके बाद तीसरे भाग के अन्तिम समय में नपुंसकवेद का क्षय होने से चौथे भाग में ११३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। चौथे भाग में सत्तायोग्य ११३ प्रकृतियों में से स्त्रीवेद का क्षय चौथे भाग के अन्तिम समय में होने से ११२ प्रकृतियों की सत्ता पाँचवें भाग में होती है तथा पाँचवें भाग के अन्त में हास्यषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—का क्षय होने से पाँचवें भाग की ११२ प्रकृतियों में से इन छह प्रकृतियों को कम करने से छठे भाग में १०६ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

छठे भाग में सत्ता योग्य १०६ प्रकृतियों में से उसके अंतिम समय में पुरुषवेद का अभाव होने से सातवें भाग में १०५ प्रकृतियाँ सत्ता-योग्य रहती हैं। सातवें भाग में जो १०५ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य बतलाई हैं, उनमें से संज्वलन क्रोध का सातवें भाग के अन्तिम समय में क्षय हो जाता है। अतः आठवें भाग में १०४ प्रकृतियों की सत्ता तथा आठवें भाग की सत्तायोग्य १०४ प्रकृतियों में से आठवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन मान का क्षय हो जाने से नौवें भाग में १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

इस प्रकार नौवें गुणस्थान के अन्तिम भाग—नौवें भाग में १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और इस अन्तिम भाग—नौवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन माया का भी क्षय हो जाता है। माया के क्षय होने से शेष रही हुई १०२ प्रकृतियाँ दसवें गुणस्थान में सत्ता-योग्य रहती हैं। इसका कथन आगे की गाथा में किया जाएगा।

यह एक साधारण नियम है कि कारण के अभाव में कार्य का भी सद्भाव नहीं रहता है। अतः पहले के गुणस्थानों में जिन कर्म प्रकृतियों

का क्षय हुआ, उनके वन्ध, उदय और सत्ता के प्रायः प्रमुख कारण मिथ्यात्व, अविरति और कषाय हैं। पूर्व-पूर्व के गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के गुणस्थानों में मिथ्यात्व आदि कारणों का अभाव होता जाता है। अर्थात् पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे आदि में मिथ्यात्वादि कारण एक के वाद दूसरे कम हो जाते हैं और अध्यवसायों की शुद्धि होने से जीव आगे-आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करता जाता है। अतः जव ये मिथ्यात्वादि कारण नहीं रहे तो उनके सद्भाव में वन्ध, उदय औरसत्ता रूप में रहने वाले कर्म भी नहीं रह पाते हैं और नष्ट हो जाते हैं।

सारांश यह है कि नौवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणि की अपेक्षा १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती। नौवें गुणस्थान के समय के नौ भाग होते हैं। इन नौ भागों के पहले भाग में तो १३८ प्रकृतियों की सत्ता है और पहले भाग के अन्तिम समय में सोलह प्रकृतियों का क्षय होने से १२२ प्रकृतियों की और उसके वाद दूसरे-तीसरे आदि भागों के अन्तिम समय में क्रमशः आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक, प्रकृतियों का क्षय होने से नौवें भाग में १०३ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

अन्तिम भाग की इन सत्ता योग्य १०३ प्रकृतियों में से संज्वलन माया का क्षय होने से दसवें गुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या १०२ हो जाती है।

इस प्रकार नौवें गुणस्थान में सत्ता प्रकृतियों का कथन करने के पश्चात आगे की गाथा में दसवें और वारहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की संख्या और उन—उन के अंत में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम वतलाते हैं।

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसय दुनिद्दखओ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो ॥ ३० ॥

में भी सत्ता में रहते हैं तथा जिनका उदय पहले से ही न हो, उनकी सत्ता द्विचरम समय में ही नष्ट हो जाती है। चारों आनुपूर्वी कर्म क्षेत्र-विपाकी हैं, अतः उनका उदय भव (मरण होने से इस जन्म के शरीर को छोड़कर दूसरे जन्म का शरीर धारण करने) की अन्तराल-

---

बद्ध कर्मों का अबाधाकाल समाप्त होने पर उदय में जो कर्म आते हैं, वह उदय दो प्रकार का है—

(१) रसोदय, (२) प्रदेशोदय।

बँधे हुए कर्मों का साक्षात अनुभव करना रसोदय है। बँधे हुए कर्मों का अन्य रूप(अर्थात् दलिक तो जिन कर्मों के बाँधे हुए हैं, उनका रस दूसरे भोगे जाने वाले सजातीय प्रकृतियों के निषेक के साथ भोगा जाए, यानी जिसका रस स्वयं का विपाक न बता सके) से अनुभव, वह प्रदेशोदय कहलाता है। अन्य प्रकृति के साथ उदय होने का कारण यह है कि रसोदय होने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव—ये पाँच कारण हैं। उनमें से किसी एक या अधिक हेतुओं के अभाव में उस कर्म का रसोदय नहीं होता। उदाहरणतः किसी जीव ने मनुष्य गति में रहते हुए एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का बन्ध किया, अनन्तर विशुद्ध परिणामों से देवगति-प्रायोग्य बन्ध करके पंचेन्द्रिय जाति का बन्ध किया व पंचेन्द्रिय रूप से देवगति में उत्पन्न हो गया। एकेन्द्रिय जाति का अबाधाकाल व्यतीत हुआ, परन्तु उस एकेन्द्रिय जाति के रसोदय हेतु भव रूप कारण चाहिए, जिसका देवगति में अभाव है, अतः वह कर्म रसोदय का अनुभव न कर प्रदेशोदय को प्राप्त करता है। उदयोन्मुख कर्म निषेक को रसोदय का मार्ग न मिलने से उसके निषेक के दलिक अन्य मार्ग—प्रदेशोदय को ग्रहण करते हैं। इस प्रदेशोदय के होने में उन कर्मों का सहज परिणमन 'स्तिबुक संक्रमण' को ग्रहण करता है। अर्थात् अनुदयवती प्रकृतियों के सजातीय उदयवती प्रकृतियों को स्तिबुक संक्रमण कहते हैं—अपर नाम प्रदेशोदय भी कह सकते हैं।

गाथार्थ— (नौवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से) सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में १०२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है तथा इसी गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय होने से क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय तक १०१ प्रकृतियों की और निद्राद्विक का क्षय होने से अंतिम समय में ६६ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और अन्तिम समय में दर्शनावरणचतुष्क तथा ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक का भी क्षय हो जाता है।

विशेषार्थ—नौवें गुणस्थान के वाद क्रमप्राप्त दसवें—सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में सत्ता प्रकृतियों की संख्या और उसके अन्तिम समय में क्षय होने वाली प्रकृति का नाम और बारहवें-क्षीणकषाय-गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की संख्या और उसके अन्तिम समय में नष्ट होने वाली प्रकृतियों के नाम इस गाथा में बतलाये हैं।

गाथा में दसवें गुणस्थान के वाद ग्यारहवें गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता आदि का कथन करना चाहिए था। लेकिन यहाँ क्षपक श्रेणि की अपेक्षा वर्णन किया गया है और क्षपक श्रेणि मांड़ने वाला दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। अतः दसवें के वाद वारहवें गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की सत्ता आदि का कथन किया गया है। उपशम श्रेणि मांड़ने वाला ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है और उसके वाद कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय न होकर सत्ता में विद्यमान रहने से गिरते-गिरते पहले मिथ्यात्व गुणस्थान तक को प्राप्त कर संसार चक्र में घूमता रहता है। लेकिन मोक्ष कर्मों के क्षय होने पर प्राप्त होता है और कर्मों का क्षय क्षपक श्रेणि मांड़ने वाला ही कर सकता है। इसीलिए दसवें के बाद वारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और जिसने वारहवाँ गुणस्थान प्राप्त कर लिया, वह निश्चय ही मोक्ष कर लेता है।

गति में ही होता है, भवस्थान—जन्मस्थान में नहीं होता है। अतः उदय का अभाव होने से अयोगि गुणस्थानवर्ती द्विचरम समय में ७३ प्रकृतियों का क्षय करता है और अन्तिम समय में १२ प्रकृतियों का क्षय होता है। अर्थात् देवद्विक आदि पूर्वोक्त ७२ प्रकृतियाँ, जिनका उदय नहीं है, जिस प्रकार द्विचरम समय में स्तिबुक संक्रम द्वारा उदयवती कर्मप्रकृतियों में संक्रान्त होकर क्षय हो जाती हैं, उसी प्रकार उदय न होने से मनुष्यत्रिक में गर्भित मनुष्यानुपूर्वी प्रकृति भी द्विचरम समय में ही स्तिबुक संक्रम द्वारा उदयवती प्रकृतियों में संक्रान्त हो जाती है। अतः द्विचरम समय में उदयवती कर्म प्रकृतियों में संक्रान्त पूर्वोक्त देवद्विक आदि ७२ प्रकृतियों की चरम समय में सत्ता नहीं मानी जाती वैसे ही द्विचरम समय में उदयवती कर्म प्रकृति में संक्रान्त मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता को भी चरम समय में नहीं मानना चाहिए। इसीलिए चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में १३ प्रकृतियों के वजाय १२ प्रकृतियों का क्षय होना मानना चाहिए।

सारांश यह है कि चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में मनुष्य-आनुपूर्वी नामकर्म का मनुष्यगति नामकर्म में स्तिबुक संक्रम के कारण संक्रमण हो जाने से १३ प्रकृतियों की वजाय १२ प्रकृतियों का क्षय होना माना जाना चाहिए। ऐसा किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है।

अन्त में ग्रन्थकार ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार जिन्होंने संपूर्ण कर्मप्रकृतियों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया है और जो देवेन्द्रों द्वारा अथवा देवेन्द्रसूरि द्वारा वन्दना किये जाते हैं, उन परमात्मा महावीर को सभी वन्दना करो।

गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के वंध, उदय और सत्ता तथा उन-उनके अन्त में क्षय होने आदि की विशेष जानकारी परिशिष्ट में दी गई है।

दसवें गुणस्थान में १०२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। क्योंकि नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय में १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और इन १०३ प्रकृतियों में से संज्वलन माया का अन्त होने से दसवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। अतः नौवें गुणस्थान की सत्तायोग्य १०३ प्रकृतियों में से एक संज्वलन माया कर्मप्रकृति को घटाने से १०२ प्रकृतियां दसवें गुणस्थान में सत्तायोग्य रहती हैं।

इन सत्तायोग्य १०२ प्रकृतियों में से दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ कषाय का क्षय हो जाने से बारहवें गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। लेकिन यह १०१ प्रकृतियों की सत्ता इस गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त— अन्तिम समय से पहले समय तक ही समझना चाहिए। इन १०१ प्रकृतियों में से निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षय हो जाने से अन्तिम समय में ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। अर्थात् बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक १०१ प्रकृतियों की और अन्तिम समय में ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

बारहवें गुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों में मोहनीय कर्म से बँधने वाली, उदय होने वाली और सत्ता में रहने वाली कर्म प्रकृतियां नहीं रहती हैं। अर्थात् मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। मोहनीय कर्म के कारण ही ज्ञानावरण, अन्तराय की पाँच-पाँच तथा दर्शनावरण की चक्षुदर्शनावरण आदि चार प्रकृतियाँ कुल १४ प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता की संभावना रहती है। लेकिन मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय हो जाने से उक्त १४ प्रकृतियों का भी बन्ध, उदय, सत्ता रूप में अस्तित्व नहीं रह सकता है। इसलिए बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में दर्शनावरणचतुष्क—चक्षु, अचक्षु,

परिशिष्ट

(१) कर्म : वन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पष्टीकरण ।
(२) कालगणना : जैनदृष्टि ।
(३) तुलनात्मक मंतव्य ।
(४) वंध यंत्र ।
(५) उदय यंत्र ।
(६) उदीरणा यंत्र ।
(७) सत्ता यंत्र ।
(८) गुणस्थानों में वंधादि विषयक यन्त्र ।
(९) कर्म प्रकृतियों का वंध निमित्त विवरण ।
(१०) उदय अविनाभावी प्रकृतियों का विवरण ।
(११) सत्ता प्रकृतियों का विवरण ।
(१२) गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के वंध, उदय, उदीरणा, सत्ता का विवरण ।

केवल दर्शनावरण, ज्ञानावरणपंचक—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञानावरण तथा अन्तरायपंचक—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-अन्तराय, कुल १४ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

प्रतिबन्धक कारणों—कर्मों के नाश हो जाने से सहज चेतना के निरावरण होने पर आत्मा का स्व-स्वरूप केवल-उपयोग का आविर्भाव होता है। केवल-उपयोग का मतलब है सामान्य और विशेष—दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध।[1] इस केवल उपयोग के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म हैं। इनमें मोहनीय कर्म मुख्य है। मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के बाद ही बाकी के दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षय होता है। इनके नष्ट होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2] अतः पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर बारहवें—क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अविनाभावी कर्म प्रकृतियों के उदय और सत्ता का विच्छेद बतलाकर अन्तिम समय में चार दर्शनावरण, पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय की सत्ता का विच्छेद होना बताया है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में भी उक्त १४ प्रकृतियाँ हैं।

इस प्रकार बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सत्तायोग्य ९९ प्रकृतियों में दर्शनावरण आदि की १४ प्रकृतियों के क्षय हो जाने से तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

---

१. सामान्य उपयोग—केवलदर्शन, विशेष उपयोग—केवलज्ञान।

२. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १०।१

सारांश यह है कि दसवें गुणस्थान की सत्तायोग्य १०२ प्रकृतियों से संज्वलन लोभ का क्षय उसके अन्तिम समय में हो जाने से वारहवें णस्थान में द्विचरम समय पर्यन्त १०१ प्रकृतियों की तथा इन १०१ कृतियों में से निद्राद्विक का क्षय होने से ९९ प्रकृतियों की सत्ता हती है। इन ९९ प्रकृतियों में से दर्शनावरण, ज्ञानावरण, अन्तराय म्वन्धी १४ प्रकृतियों का क्षय वारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे ो जाता है।

दसवें और वारहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की संख्या और नके अन्त में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम वतलाकर अव आगे ी गाथाओं में तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की ंख्या और क्षय होने वाली प्रकृतियों नाम वतलाते हैं।

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायण निमिणं ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

विसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

गाथार्थ—सयोगि और अयोगि गुणस्थान के द्विचरम समय तक ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उसके वाद देवद्विक, विहायोगतिद्विक, गंधद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, वन्धन और संघातन की पाँच-पाँच, निर्माण नाम, संहनन-षट्क, अस्थिर षट्क, संस्थान षट्क, अगुरुलघु चतुष्क, अपर्याप्त नाम, साता अथवा असातावेदनीय, प्रत्येक व उपांग

कर्म : वन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पष्टीकरण

वन्ध—नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं। जीव के स्वभावतः अमूर्त होने पर भी संसारस्थ जीव शरीरधारी होने से कथंचित मूर्त है, उस अवस्था में कषाय और योग के निमित्त से अनादिकाल से मूर्त-कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता आ रहा है। पुद्गल-वर्गणाएं अनेक प्रकार की हैं, उनमें से जो वर्गणाएँ कर्म रूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं, जीव उन्हींको ग्रहण करके निज आत्मप्रदेशों के साथ संयोग सम्बन्ध के द्वारा विशिष्ट रूप से जोड़ लेता है। इनमें से कपाय के उदय के निमित्त से होने वाले कर्मवन्ध को सांपरायिक वन्ध और शेप को योगनिमित्तक (योगप्रत्ययिक) कहते हैं। यहां कपाय शब्द से सामान्यतया मोहनीय कर्म को ग्रहण किया गया है।

वन्ध के कारणों में योग और कषाय (मोहनीय कर्म) मुख्य हैं। उसके कारण जिस गुणस्थान में जिस प्रकार के निमित्त होते हैं, वैसे कर्म वँधते हैं; जैसे—वेदनीय कर्म में से सातावेदनीय कर्मप्रकृति योग के निमित्त से वँधती है और असातावेदनीय कर्म के वन्ध में कपाय के सहकार की आवश्यकता होती है।

मोहनीय कर्म (कपाय) के निमित्त से होने वाले वन्ध के भी प्रमाद सहकृत, अप्रमाद सहकृत—ये दो भेद होते हैं। मोहनीय कर्म के सूक्ष्म संपराय, वादर संपराय तथा वादर संपराय में भी निवृत्ति-अनिवृत्ति, यथा-प्रवृत्ति, अपूर्वकरण—अपूर्वकरण, प्रत्याख्यानीय, अप्रत्याख्यानीय, अनन्तानुवंधनीय, मिथ्यात्व आदि निमित्त वनते हैं तथा सम्यक्त्व सहकृत संक्लेश परिणाम भी वन्ध में निमित्त रूप होता है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन गुणस्थानों में जितने निमित्त सम्भव हैं, उस-उस गुणस्थान में उन निमित्तों से वंधने

की तीन-तीन, सुस्वर और नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाने से अन्तिम समय में मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यशःकीर्तिनाम, आदेय नाम, सुभगनाम, जिननाम, पंचेन्द्रिय जातिनाम तथा साता अथवा असाता वेदनीय इन १३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन १३ प्रकृतियों की सत्ता भी चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से आत्मा निष्कर्मा होकर मुक्त बन जाती है।

विशेषार्थ—उक्त तीन गाथाओं में तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या और क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम संज्ञाओं आदि के द्वारा बतलाये गये हैं।

बारहवें गुणस्थान की सत्तायोग्य ९९ प्रकृतियों में से दर्शनावरण आदि की १४ प्रकृतियों का क्षय हो जानें से ८५ प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान में सत्तायोग्य रहती हैं। ये ८५ प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अतिरिक्त चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय (अन्तिम समय से पहले) तक रहती हैं। इनमें से ७२ प्रकृतियाँ भी चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय हो जाने से अन्तिम समय में १३ प्रकृतियाँ ही सत्तायोग्य रहती हैं। उनका भी क्षय अन्तिम सम[illegible] ाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान की ८५ प्रकृ[illegible]
बन्ध, उदय और सत्ता[illegible] । बारहवें गु[illegible]
अविरत, कषाय के [illegible] धने वाली
जाता है। सिर्फ योग के [illegible] ी सत्ता र[illegible]
चौदहवें गुणस्थान में [illegible] इसील[illegible]

सभी कर्म प्रकृतियों का वन्ध होता है। निमित्तों और उससे बँधने वाली कर्म प्रकृतियों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **योग-निमित्तक**—सातावेदनीय। १

(२) **सूक्ष्मसंपराय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—दर्शनावरण चतुष्क (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन), ज्ञानावरण पंचक (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवल), अन्तराय पंचक (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य), उच्चगोत्र, यशःकीर्तिनाम। १६

(३) **अनिवृत्ति वादर संपराय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, पुरुषवेद। ५

(४) **अपूर्वकरण निवृत्ति बादर संपराय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—हास्य, रति, जुगुप्सा, भय, निद्रा, प्रचला, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, वैक्रिय शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, निर्माण नाम, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास। ३३

(५) **यथाप्रवृत्ति अप्रमाद भाव सहकृत संक्लेश निमित्तक**—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग। २

(६) **प्रमादभाव सहकृत संक्लेश निमित्तक**—शोक, अरति, अस्थिर, अशुभ, अयशः-कीर्ति, असातावेदनीय, देवायु। ७

(७) **प्रत्याख्यानीय कषाय सहकृत संक्लेश निमित्तक**—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।

सयोगि केवली और चौदहवें गुणस्थान को अयोगि केवली कहते हैं। इन योगनिमित्तक प्रकृतियों में अधिकतर काययोग से सम्बन्ध रखने वाली हैं और योगों का निरोध हो जाने से चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में कुछ जीवविपाकी कुछ क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों के साथ मुख्य रूप से पुद्गलविपाकी प्रकृतियों की सत्ता का नाश हो जाता है। क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम ये हैं—

(१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी, (३) शुभ विहायोगति, (४) अशुभ विहायोगति, (५) सुरभि गंधनाम, (६) दुरभि गंधनाम, (७) कर्कश स्पर्शनाम, (८) मृदु स्पर्शनाम, (९) लघु स्पर्शनाम, (१०) गुरु स्पर्शनाम, (११) शीत स्पर्शनाम, (१२) उष्ण स्पर्शनाम, (१३) स्निग्ध स्पर्शनाम, (१४) रूक्ष स्पर्शनाम, (१५) कृष्ण वर्णनाम, (१६) नील वर्णनाम, (१७) लोहित वर्णनाम, (१८) हारिद्र वर्णनाम, (१९) शुक्ल वर्णनाम, (२०) कटुक रसनाम, (२१) तिक्त रसनाम, (२२) कषाय रसनाम, (२३) अम्ल रसनाम, (२४) मधुर रसनाम, (२५) औदारिक, (२६) वैक्रिय, (२७) आहारक, (२८) तैजस्, (२९) कार्मण शरीरनाम, (३०) औदारिक वन्धन, (३१) वैक्रिय वन्धन, (३२) आहारक वन्धन, (३३) तैजस वन्धन, (३४) कार्मण वन्धन, (३५) औदारिक संघातन, (३६) वैक्रिय संघातन, (३७) आहारक संघातन, (३८) तैजस संघातन, (३९) कार्मण संघातन, (४०) निर्माण नाम, (४१) वज्रऋषभनाराच संहनन (४२) ऋषभनाराच संहनन, (४३) नाराच संहनन, (४४) अर्धनाराच संहनन, (४५) कीलिका संहनन, (४६) सेवार्त संहनन, (४७) अस्थिर नाम, (४८) अशुभ नाम, (४९) दुर्भग नाम, (५०) दुःस्वर नाम, (५१) अनादेय नाम, (५२) अयशःकीर्ति नाम, (५३) समचतुरस्र संस्थान, (५४) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, (५५) सादि संस्थान, (५६) वामन संस्थान, (५७) कुब्ज संस्थान, (५८)

(८) अप्रत्याख्यानीय सहकृत संक्लेश निमित्तक—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभ नाराच संहनन। १०

(९) अनन्तानुबन्धी कषाय सहकृत संक्लेश निमित्तक—तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, न्यग्रोध संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति, स्त्रीवेद। २५

(१०) मिथ्यात्व सहकृत संक्लेश निमित्तक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुंडक संस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व। १६

(११) सम्यक्त्व सहकृत संक्लेश निमित्तक—तीर्थंकर नामकर्म। १

प्रत्येक गुणस्थान में बन्धयोग्य कौन कौन-सी प्रकृतियाँ होती हैं, और कौन-सी नहीं होती हैं इसका कारण तथा बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से प्रत्येक प्रकृति का किस गुणस्थान तक बन्ध होता है, आदि की तालिका बनाने से गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के बन्ध की विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

उदय-उदीरणा

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से स्थिति को पूर्ण करके कर्म का फल मिलना उदय कहलाता है। अर्थात् जिस समय कोई कर्म बंधता है, उस समय से ही उसकी सत्ता की शुरूआत हो जाती है

हुंड संस्थान, (५९) अगुरुलघु नाम, (६०) उपघात नाम, (६१) पराघात नाम, (६२) उच्छ्वास नाम, (६३) अपर्याप्त, (६४) प्रत्येक नाम, (६५) स्थिर नाम, (६६) शुभ नाम, (६७) औदारिक अंगोपांग, (६८) वैक्रिय अंगोपांग, (६९) आहारक अंगोपांग, (७०) सुस्वर नाम, (७१) नीच गोत्र तथा (७२) साता या असाता वेदनीय में से कोई एक।[1]

उपर्युक्त ७२ प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाने से अंतिम समय में निम्नलिखित १३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है—मनुष्यत्रिक-मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु, त्रसत्रिक—त्रस, बादर, पर्याप्त नाम, यशःकीर्तिनाम, आदेय नाम, सुभग, तीर्थङ्कर नाम, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रिय जाति एवं साता

---

१. इन प्रकृतियों में क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी और पुद्‌गलविपाकी प्रकृतियों का वर्गीकरण इस प्रकार करना चाहिए—

क्षेत्रविपाकी—(जिस कर्म के उदय से जीव नियत स्थान को प्राप्त करे उसे क्षेत्र विपाकी कर्म कहते हैं।) देवानुपूर्वी।

जीवविपाकी—(जिस कर्म का फल जीवों में हो, उसे जीवविपाकी कर्म कहते हैं।) देवगति, शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति नाम दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, उच्छ्वास, अपर्याप्त, सुस्वर, नीचगोत्र साता या असाता वेदनीय कर्म में से कोई एक।

पुद्‌गलविपाकी—(जिसका फल पुद्‌गल—शरीर में हो, उसे पुद्‌गलविपाकी कहते हैं।) गंध द्विक, स्पर्श-अष्टक, रसपंचक, वर्णपंचक, शरीरपंचक बन्धन पंचक, संघातन पंचक, निर्माणनाम, संहनन षट्क, अस्थिर, अशुभ, संस्थान षट्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, अंगोपांगत्रिक।

और जिस कर्म का जितना अवाधाकाल होता है, उसके समाप्त होते ही उस कर्म के उदय में आने के लिए कर्म-दलिकों की निषेक नामक एक विशेष प्रकार की रचना होती है और निषेक के अग्रभाग में स्थित कर्म उदयावलि में स्थित होकर फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

उदय में आने के समय के पूर्ण न होने पर भी आत्मा के करण-विशेष से—अध्यवसाय विशेष से कर्म का उदयावलि में आकर फल देना उदीरणा कहलाती है।

कर्मोदय के विषय में यह विशेष रूप से समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक, तीर्थंकर नामकर्म का रसोदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में और प्रदेशोदय चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

उदययोग्य १२२ प्रकृतियाँ हैं और उनके उदय के निमित्त लगभग निम्नलिखित हो सकते हैं। इन निमित्तों के साथ जोड़े गये अविनाभावी शब्द का अर्थ 'साथ में अवश्य रहने वाला' करना चाहिए।

(१) केवलज्ञान अविनाभावी प्रकृति—तीर्थङ्कर नामकर्म।

(२) मिश्रगुणस्थानक अविनाभावी—मिश्र मोहनीय।

(३) क्षयोपशम सम्यक्त्व अविनाभावी—सम्यक्त्व मोहनीय।

(४) प्रमत्तसंयत अविनाभावी—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग।

(५) मिथ्यात्वोदय अविनाभावी—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप नामकर्म, मिथ्यात्व मोहनीय।

(६) जन्मान्तर अविनाभावी—नरकानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, देवानुपूर्वी।

या असाता वेदनीय में से कोई एक। अर्थात् चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियों में से उक्त १३ प्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं, अर्थात् सत्ता योग्य १४८ प्रकृतियों में से १३५ प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक हो जाता है और शेष रही ये १३ प्रकृतियाँ भी ऐसी हैं कि जिनका अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान में ध्यानस्थ होकर पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने जितने समय में क्षय करने से सर्वथा कर्म मुक्त हो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित अनन्त सुख का अनुभव करने से शान्तिमय, नवीन कर्मबंध के कारणभूत भाव-कर्म रूपी मैल से रहित, नित्य ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्यावाध, अवगाहन, अमूर्तत्व और अगुरुलघु—इन आठ गुणों सहित, कृतकृत्य, लोक के अग्रभाग में स्थित होकर सिद्ध कहलाने लगते हैं।

सारांश यह है कि बारहवें गुणस्थान की सत्तायोग्य प्रकृतियों में से उसी गुणस्थान में १४ प्रकृतियों का क्षय होने से तेरहवें गुणस्थान में तथा चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त ८५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इन ८५ प्रकृतियों में से चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में १३ प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। इन १३ प्रकृतियों का भी इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से जीव सम्पूर्ण कर्ममल को नष्ट करके निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त बन जाता है।

इस प्रकार गुणस्थानों में क्रम से कर्म बन्ध, उदय और सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या और उन-उनके अन्तिम समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा में चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सत्तायोग्य १३ प्रकृतियों के स्थान में

(७) अनन्तानुबन्धी कषायोदय अविनाभावी—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म। ९

(८) अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय अविनाभावी—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्तिनाम। १३

(९) प्रत्याख्यानावरण कषायोदय अविनाभावी—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यंच गति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, उद्योत नामकर्म। ८

(१०) प्रमत्तभाव अविनाभावी—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि। ३

(११) पूर्वकरण अविनाभावी—अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, सेवार्त संहनन। ३

(१२) तथाविध संक्लिष्ट परिणामाविनाभावी—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा। ६

(१३) बादर कषायोदय अविनाभावी—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया। ६

(१४) अयथाख्यात चारित्र अविनाभावी—संज्वलन लोभ। १

(१५) अक्षपक अविनाभावी—ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन। २

(१६) छाद्मस्थिक भाव अविनाभावी—निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण पंचक (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवल), दर्शनावरण चतुष्क (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल), अन्तराय पंचक (दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य)।

१२ प्रकृतियों के क्षय होने का अभिमत स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ का उप-संहार करते हैं।

नरअणुपुव्वि विणा वा बारस चरिमसमयंमि जो खविउं ।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

गाथार्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से मनुष्यानुपूर्वी को छोड़कर शेष बारह प्रकृतियों को चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय कर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है तथा देवेन्द्रों से अथवा देवेन्द्रसूरि से वन्दित ऐसे भगवान् महावीर को नमस्कार करो।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में चौदहवें—अयोगि केवली गुणस्थान के चरम समय में तेरह प्रकृतियों की सत्ता क्षय होना बतलाया है। लेकिन इस गाथा में बारह प्रकृतियों की सत्ता के क्षय होने के मत का संकेत करते हुए ग्रंथ का उपसंहार किया गया है।

किन्हीं आचार्यों का मत है कि मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म की सत्ता चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में ही मनुष्यत्रिक में गर्भित मनुष्य गति नामकर्म प्रकृति में स्तिवुक संक्रम द्वारा संक्रान्त होकर नष्ट हो जाती है। अतः चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उसके दलिक नहीं रहते हैं और शेष बारह प्रकृतियों का स्वजाति के बिना स्तिवुक संक्रम[1] नहीं होने से उनके दलिक चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय

---

१. अनुदयवती कर्मप्रकृति के दलिकों को सजातीय और तुल्य स्थिति वाली उदयवती कर्मप्रकृति के रूप में बदलकर उसके दलिकों के साथ भोग लेना स्तिवुकसंक्रम कहलाता है।

(१७) **वादर काययोग अविनाभावी**—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, अस्थिर, अशुभ, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, हुण्ड संस्थान, अगुरुलघु नाम, उपघात नाम, पराघात नाम, श्वासोच्छ्वास नाम, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नाम, निर्माण नाम, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वज्रऋषभनाराच संहनन।

(१८) **बादर वचनयोग अविनाभावी**—दुःस्वर, सुस्वर नाम।

(१९) **सांसारिक भाव अविनाभावी**—साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

(२०) **मनुष्य भव अविनाभावी**—मनुष्यगति, मनुष्यायु।

(२१) **मोक्ष सहायक मुख्य पुण्य प्रकृतियाँ**—त्रस, बादर, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय जाति, उच्चगोत्र, सुभग, आदेय, यशःकीर्तिनाम।

पूर्वोक्त उदय के निमित्तों में कितनेक मुख्य और दूसरे कितनेक उनके अन्तर्गत सहायक निमित्त भी होते हैं। जैसे कि प्रमत्तभाव में मिथ्यात्व, अनन्तानुवन्धी कषाय आदि वादर (स्थूल) कषाय के संभवित प्रत्येक निमित्त नौवें गुणस्थान तक होते हैं। सिद्धत्व को प्राप्त करने के अति निकट संसारी जीव में मनुष्यभव तथा केवलज्ञान अविनाभावी प्रकृतियों का भी समावेश होता है। इन निमित्तों का अभ्यासियों की सरलता के लिए यहाँ संकेत किया गया है।

उदय के समान उदीरणा अधिकार समझना चाहिए और उसमें जिन प्रकृतियों की न्यूनाधिकता आदि बतलाई गई है, तदनुसार घटाकर समझ लेना चाहिए।

इतना विशेष है कि त्रस पर्याय प्राप्त जीव तेजस्कायिक और वायुकायिक पर्याय को प्राप्त करता है, तब देवद्विक अथवा नरकद्विक का उद्वेलन करे तो अन्य गति में नहीं जाने वाला होने से तद्योग्य देव, मनुष्य और नरकायु तथा अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियां कुल बारह प्रकृतियों के सिवाय एक जीव की अपेक्षा १३६ प्रकृतियों की तथा पहले कहे गये देवद्विक अथवा नरकद्विक—इन दो द्विकों में से बाकी रहे एक द्विक और वैक्रिय चतुष्क—इस वैक्रियषट्क का उद्वेलन करने पर १३० प्रकृतियों की, उच्चगोत्र का उद्वेलन करने पर १२९ की और मनुष्यद्विक की उद्वेलना करे तो १२७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकायिक जीव नरकद्विक या देवद्विक का उद्वेलन करें तो अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात और देव तथा नरक में जाने वाला नहीं होने से दो आयु इस प्रकार कुल नौ प्रकृतियों के बिना अनेक जीवों की अपेक्षा १३९ की सत्ता होती है। क्योंकि कोई नरकद्विक का उद्वेलन करे और कोई देवद्विक का उद्वेलन करे, परन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा दोनों द्विक सत्ता में होते हैं। अमुक एक ही प्रकार के द्विक का उद्वेलन करें तो ऐसे जीवों की अपेक्षा १३७ प्रकृतियों की तथा पूर्वबद्ध अनेक जीवों की अपेक्षा मनुष्यायु को बाँधने वाले को १३७ की और तिर्यंचायु बाँधने वाले और अबद्धायुष्क के १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि वैक्रियषट्क की उद्वेलना की हो तो १३७ के बदले १३१ और १३६ के बदले १३० प्रकृतियों की सत्ता होगी।

पूर्वोक्त सत्ता सिर्फ तेजस्कायिक, वायुकायिक में ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु वहाँ से निकलकर आये हुए अन्य तिर्यंचों में

इन चारों के भव्य और अभव्य की अपेक्षा से कुल आठ भेद हो जाते हैं।

उक्त भेदों के द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता समझने में सुविधा होगी। परन्तु प्रकृतियों की सत्ता समझने के पूर्व इतना समझ लेना चाहिए कि कभी भी त्रस पर्याय प्राप्त नहीं करने वालों को मनुष्यद्विक, नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रिय चतुष्क, आहारक चतुष्क, नरकायु, मनुष्यायु, देवायु, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, उच्चगोत्र और तीर्थङ्कर नामकर्म—इन इक्कीस प्रकृतियों की कभी भी सत्ता नहीं होती है तथा जो अनादि मिथ्यात्वी हैं, उन्हें सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, आहारक चतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म इन सात प्रकृतियों की सत्ता होती ही नहीं है। एक जीव को अधिक से अधिक दो आयुकर्म की सत्ता होती है।

अब उक्त आठ भेदों में सत्ता विषयक विचार करते हैं—

(१) अनादि मिथ्यात्वी, त्रस पर्याय प्राप्त नहीं किये हुये पूर्व बद्धायु अभव्य जीव के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों के सिवाय १२७ प्रकृतियां सत्ता में होती हैं।

(२) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नहीं किये हुये अबद्धायु अभव्य जीव के भी पूर्व कथनानुसार १२७ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं।

(३) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त पूर्व बद्धायु अभव्य जीव के भी अनादि मिथ्यात्वी होने से तद्‌विरोधी सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियां सत्ता में होती ही नहीं हैं तथा पूर्व बद्धायु होने से अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है और एक जीव की अपेक्षा से विचार करने पर अन्य गति की आयु का बन्ध करने वाले

अपर्याप्त अवस्था में अल्पकाल तक रहती है। अतः वहां भी संभावना मानी जा सकती है। शेष रहे हुए तिर्यंच जीवों के पहले कहे गए आठ विकल्पों में से तीसरे, चौथे, सातवें और आठवें विकल्प के अनुसार भी होती है।

मनुष्यगति—इस गति में अनादि मिथ्यात्वी के पूर्वोक्त आठ विकल्पों में से तीसरा, चौथा, सातवाँ और आठवाँ ये चार विकल्प संभव हैं, अतः उसी के अनुसार प्रकृतियों की सत्ता समझ लेनी चाहिए। परन्तु जो नरकद्विक अथवा देवद्विक की उद्वेलना करते हैं, उनके सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात तथा उनके अवद्धायु वाले होने से शेष तीन आयु, कुल बारह प्रकृतियों के सिवाय एक जीव की अपेक्षा १३६ की, अनेक जीवों की अपेक्षा १३८ की तथा वैक्रियषट्क और पूर्वोक्त द्विक की उद्वेलना की हो तो १३० प्रकृतियों की भी सत्ता अल्प काल के लिए हो सकती है।

देवगति—इस गति वाले जीव नरकगति में नहीं जाते हैं। अतः तद्योग्य आयु का बंध करते ही नहीं हैं और अनादि मिथ्यात्वी हों तो सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात—कुल आठ प्रकृतियों के सिवाय पूर्व वद्धायु को अनेक जीवों की अपेक्षा १४० की और एक जीव की अपेक्षा १३९ की और अवद्धायु को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती।

इस प्रकार चारों गतियों में अनादि मिथ्यात्वी जीवों के कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाने के वाद अव सादि मिथ्यात्वी की अपेक्षा चारों गतियों में कर्म प्रकृतियों की सत्ता वतलाते हैं।

नरकगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व वद्ध-आयु वाले के देवायु का वन्ध न होने से १४७ की तथा एक प्रकार की आयु

ीव को १३९ प्रकृतियों की तथा तद्गति की आयु का बन्ध करने ाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त अवद्धायु अभव्य जीव अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियाँ ता में होती ही नहीं हैं तथा अवद्धायु होने से भुज्यमान आयु सत्ता होती है। अतः शेष तीन आयु भी सत्ता में नहीं रहती हैं। इस कार दस प्रकृतियों के बिना बाकी की १३८ प्रकृतियाँ सत्ता में ती हैं।

(५-६) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नहीं करने वाले वद्धाय भव्य तथा अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त नहीं करने ाले अवद्धायु भव्य जीवों को अभव्य जीवों के लिए कहे गए पहले व सरे दो भंगों के अनुसार ही कर्मप्रकृतियों की सत्ता समझनी ाहिए। अर्थात् जिस प्रकार उन अभव्य जीवों को १२७ प्रकृतियों ी सत्ता होती है इसी प्रकार इन दोनों प्रकार के भव्य जीवों के भी २७ प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

(७) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त पूर्व बद्धायु भव्य जीव अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती तथा एक जीव की अपेक्षा विचार करने पर अन्य आयु का बन्ध रने वाले जीव के १३९ प्रकृतियों की और उसी गति की आयु को ांधने वाले जीव को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) अनादि मिथ्यात्वी त्रस पर्याय प्राप्त अवद्धायु भव्य जीव की त्ता का विचार दो प्रकार से किया जाता है—(१) सद्भाव सत्ता २) संभव सत्ता।

बाँधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा अवद्ध-आयु वाले के अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाला पहले गुणस्थान में नरकगति में अवद्धायु ही हो तो उसे आहारक चतुष्क, देव, मनुष्य, और तिर्यंच आयु—ये सात प्रकृतियाँ सत्ता में नहीं होने से १४१ की और आहारक चतुष्क की सत्ता वाले पूर्वबद्धायु के अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की, एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायु के १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता से रहित पूर्ववद्धायु हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की, एक जीव की अपेक्षा १४१ की और अवद्धायु के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनमें भी सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक को पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४१, एक जीव की अपेक्षा १४० की तथा अवद्धायु के १३९ की तथा मिश्र मोहनीय के उद्वेलक को पूर्ववद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४० की और एक जीव की अपेक्षा १३९ की और अबद्धायु के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती ही नहीं है। अत: अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के १४४ की और अन्य गति को बाँधने वाले के १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्ववद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के १४१ की तथा अवद्धायुष्क के भी १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है। सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करने वाले पूर्व बद्धायु अनेक ज

जो जीव उसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं और विद्यमान कर्म प्रकृतियों की सत्ता वाले हैं, उन दोनों प्रकार के जीवों का समावेश सद्भाव सत्ता में और जिन जीवों के आयु बन्ध संभव है, उन जीवों का समावेश संभव सत्ता में होता है।

सद्भाव सत्ता वाले जीवों के सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात तथा तीन आयु—इन दस प्रकृतियों के सिवाय १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनके सिर्फ भुज्यमान आयु ही होती है।

संभव सत्ता वाले जीवों में (१) अनेक जीवों की अपेक्षा चारों आयुयों को गिनने से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों से रहित १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है। (२) एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १३९ प्रकृतियों की तथा (३) उसी गति की आयु बाँधने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के अनन्तर अब सादि मिथ्यादृष्टि के कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

जो सम्यक्त्व प्राप्त करने के अनन्तर संक्लिष्ट अध्यवसाय के योग से गिरकर पहले गुणस्थान में आया हो, उसे सादि मिथ्यात्वी कहते हैं। इनमें से कितने ही श्रेणि से पतित और कितने ही सिर्फ सम्यक्त्व से पतित होते हैं। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर जो यहाँ आते हैं, उन्हें अनन्तानुबन्धी की सत्ता नहीं होती है, किन्तु तत्काल ही यहाँ उसका बन्ध होने से सत्ता भी होती है। अतः सभी जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायु वाले जीवों के १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अपेक्षा १४२ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति का बन्ध करने वाले के १३६ की और अन्य गति का बंध करनें वाले के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा मिश्र मोहनीय उद्वेलक पूर्वबद्धायु के अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ की तथा अन्य गति की आयु बांधने वाले एक जीव की अपेक्षा १३९ की एवं उसी गति की आयु बाँधने वाले के १३८ की तथा अवद्धायु को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तेजस्कायिक, वायुकायिक में यदि आहारक चतुष्क का उद्वेलन करे तो १४० की तथा सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करे तो १३९ की और उसके बाद यदि मिश्र मोहनीय की उद्वेलना करे को १३८ की और तदनन्तर देवद्विक अथवा नरकद्विक की उद्वेलना करे तो १३६ प्रकृतियों की सत्ता व अनेक जीवों की अपेक्षा १३८ की होती है और उसके बाद वैक्रियषट्क के घटाने पर १३० की, उच्चगोत्र कम करने पर १२९ की और मनुष्यद्विक को कम करने पर १२७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

उक्त सत्ता तेजस्कायिक, वायुकायिक में से आये हुए अन्य तिर्यंचों के भी अल्पकाल के लिए होती है। अन्य स्थावरों को १३० प्रकृतियों तक की सत्ता तेजस्कायिक और वायुकायिक में से न भी आये हों तो भी होती है तथा १३० प्रकृतियों की सत्ता वाला मनुष्यायु का बन्ध करे तो १३१ प्रकृतियों की भी सत्ता होती है।

मनुष्यगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायु को १४८ की एवं एक ही गति की आयु बाँधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा उसी गति को बाँधने वाले ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ की और अवद्धायुष्क के भी १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अवद्धायु वालों को भी सभी जीवों की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इसका कारण यह है कि चारों गतियों में आयु कर्म का वन्ध नहीं करने वाले (अवन्धक) जीव होते हैं। अमुक एक गति की अपेक्षा से १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेष रूप से विचार करने पर इसके दस विभाग हो जाते हैं—

(१) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाला (पूर्व वद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (२) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाला (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (३) आहारक चतुष्क की सत्ता वाला (पूर्व वद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (४) आहारक चतुष्क की सत्ता वाला (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (५) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित (पूर्ववद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (६) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्तारहित (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (७) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक (पूर्व-वद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (८) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी, (९) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक (पूर्ववद्धायु) सादि मिथ्यात्वी तथा (१०) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक (अवद्धायु) सादि मिथ्यात्वी।

जिनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती है, उनको आहारक चतुष्क की सत्ता इस मिथ्यात्व गुणस्थान में होती ही नहीं है। उक्त दस भेदों में सत्ता इस प्रकार समझनी चाहिए—

आहारक चतुष्क की सत्ता वालों को पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और तद्गति की आयु को बाँधने वाले को १४४ की एवं अन्य गति को बांधने वाले को १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करने वाला पूर्वबद्धायु हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय के बिना १४२ की एवं एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु का बन्ध करने वाले को १४० की तथा उसी गति का बन्ध करने वाले को १३९ की और अबद्धायुष्क को भी १३९ की तथा देवद्विक या नरकद्विक की उद्वेलना की हो तो पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क के सिवाय १४३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करे तो १४२ की तथा नरक-द्विक या देवद्विक की उद्वेलना करे तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की और दोनों द्विकों में से एक द्विक की उद्वेलना की हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४० की तथा उसी गति का बन्ध करने वाले को १३७ की और अन्य गति को बाँधने वाले के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। जिस प्रकार अनेक जीवों को अपेक्षा अनुक्रम से १३८ और १३९ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, उसी प्रकार मिश्र मोहनीय की उद्वेलना करने वाले को (जहाँ १४२, १४०, १३८, और १३७ की सत्ता होती है, ऐसा कहा है, वहाँ) १४१, १३९, १३७, और १३६ की सत्ता समझनी चाहिए।

देवगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा विचार करें तो तीर्थं-कर नामकर्म और नरकायु—इन दो के सिवाय इस गुणस्थान में

(१) तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता सहित पूर्व बद्धायुष्क सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के आहारक चतुष्क, तिर्यंचायु और देवायु—इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता सहित अवद्धायु सादि मिथ्या-दृष्टि जीवों के नरकायु की ही सत्ता वाले होने से शेष तीन आयुकर्म और आहारक चतुष्क इन सात प्रकृतियों के सिवाय १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्व वद्धायु सादि मिथ्या-दृष्टि जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४४ की तथा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित अबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में भिन्न-भिन्न आयु कर्म की सत्ता वाले होते हैं। अतः अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १४४ की सत्ता वाले होते हैं।

(५) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्व वद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीवों में तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क के बिना सभी जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आयु बाँधने वाले के १४० की और अन्य गति की आयु बांधने वाले के १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(६) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क रहित अवद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में भिन्न-भिन्न आयु की सत्ता वाले

१४६ की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ की तथा आहारक चतुष्क की सत्ता से रहित पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ और एक जीव की अपेक्षा १४१ की एवं अबद्धायुष्क को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में अनादि मिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा १२७, १२६, १३०, १३१, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१ १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ और १४८ इन सत्रह सत्तास्थानों का विचार किया गया। अब दूसरे सासादन गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता का वर्णन करते हैं।

(२) **सासादन गुणस्थान**—इस गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता के बारे में यह विशेष रूप से समझना चाहिए कि—

(१) इस गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता नहीं होती है।

(२) जिनके देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क सत्ता में हों वे ही इस गुणस्थान में आते हैं तथा आहारक चतुष्क की सत्ता वाले भी आते हैं।

(३) यह गुणस्थान ऊपर से नीचे गिरने वाले को ही होता है।

इस गुणस्थान में सामान्य से पूर्वबद्धायु और अबद्धायु—इन दो प्रकार के जीवों के द्वारा सत्ता का कथन किया जाएगा। उनमें भी आहारक चतुष्क की सत्ता वाले और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित—इस प्रकार चार भेद हो जाते हैं। अर्थात् सासादन गुणस्थानवर्ती जीव चार प्रकार के होते हैं—(१) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्वबद्धायु सासादनी, (२) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित

ने मे अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियों की सत्ता वाले होते हैं।

(७) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क रहित सम्यक्त्व-मोहनीय के उद्वेलक पूर्व बद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीवों में सभी जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय के सिवाय १४२ प्रकृतियों की तथा एक जीव की अपेक्षा तद्गति की आयु का बन्ध करने वाले को १३९ प्रकृतियों की और अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक अबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में होते हैं। इसलिए तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क व सम्यक्त्व मोहनीय के सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(९) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक पूर्वबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव के अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के सिवाय १४१ प्रकृतियों की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बांधने वाले के १३८ की और अन्य गति को बाँधने वाले के १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(१०) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क विहीन, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक अबद्धायु सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गति में होने से अनेक जीवों की अपेक्षा सात प्रकृ-

विद्धायुष्क सासादनी, (३) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्व-द्धायु सासादनी और (४) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित अब-द्धायु सासादनी।

इन भेदों में निम्नलिखित प्रकार से कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(१) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्वबद्धायु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४५ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४४ की और अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित अबद्धायु सास्वादन गुण-स्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित पूर्वबद्धायु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४१ की तथा उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४० की तथा अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित अबद्धआयु सास्वादन गुण-स्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सामान्य से प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के बाद अब गतियों की अपेक्षा सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों को प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

(१) तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता सहित पूर्व बद्धायुष्क सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के आहारक चतुष्क, तिर्यंचायु और देवायु—इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता सहित अवद्धायु सादि मिथ्या-दृष्टि जीवों के नरकायु की ही सत्ता वाले होने से शेष तीन आयुकर्म और आहारक चतुष्क इन सात प्रकृतियों के सिवाय १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

(३) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित पूर्व बद्धायु सादि मिथ्या दृष्टि जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवा १४७ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आ बाँधने वाले को १४४ की तथा अन्य गति की आयु बाँधने वाले क १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित अबद्धायु सादि मिथ्यात्व जीव चारों गति में भिन्न-भिन्न आयु कर्म की सत्ता वाले होते हैं। अ अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृति की और एक जीव की अपेक्षा १४४ की सत्ता वाले होते हैं।

(५) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहि पूर्व बद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीवों में तीर्थङ्कर नामकर्म और आहार चतुष्क के विना सभी जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्ष उसी गति की आयु बाँधने वाले के १४० की और अन्य गति की आयु बांधने वाले के १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(६) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क रहित अबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में भिन्न-भिन्न आयु की सत्ता वाले

नरकगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायु के १४६ की, एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायु को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो अनुक्रम से १४२, १४१ और १४० की सत्ता होती है।

नरकगति के अनुसार ही तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में भी सास्वादन गुणस्थान वाले जीवों के प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

इस प्रकार सास्वादन गुणस्थान में १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६ और १४७, प्रकृतियों की सत्ता होती है। अब आगे मिश्र-गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

(३) **मिश्र गुणस्थान**—सास्वादन गुणस्थान के अनुसार ही इस गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। लेकिन सास्वादन गुणस्थान ऊपर-ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाले को ही होता है, जबकि मिश्रगुणस्थान चढ़ने वाले जीवों को भी होता है।

मिश्र गुणस्थान में आहारक चतुष्क की सत्ता सहित और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित—इन दो भेदों के द्वारा प्रकृतियों की सत्ता को स्पष्ट करते हैं।

(१) आहारक चतुष्क की सत्ता सहित मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायु के १४७ की और अन्य एक ही प्रकार की गति की आयु को बाँधने वाले जीवों की अपेक्षा १४५ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ और एक जीव की अपेक्षा १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा जिन्होंने अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना की हो तो उनके

होने से अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियों की सत्ता वाले होते हैं।

(७) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क रहित सम्यक्त्व-मोहनीय के उद्वेलक पूर्व बद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीवों में सभी जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक चतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय के सिवाय १४२ प्रकृतियों की तथा एक जीव की अपेक्षा तद्गति की आयु का वन्ध करने वाले को १३९ प्रकृतियों की और अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय उद्वेलक अवद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव चारों गति में होते हैं। इसलिए तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क व सम्यक्त्व मोहनीय के सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(९) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता रहित सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक पूर्वबद्धायु सादि मिथ्यात्वी जीव के अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के सिवाय १४१ प्रकृतियों की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के १३८ की और अन्य गति को वाँधने वाले के १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(१०) तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क विहीन, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय उद्वेलक अवद्धायु सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गति में होने से अनेक जीवों की अपेक्षा सात प्रकृ-

लिए चार प्रकृतियाँ कम गिननी चाहिए, अर्थात् १४७, १४५, १४४ के बदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। आहारक चतुष्क की सत्तावालों के इस गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय अवश्य सत्ता में होती है। अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ की तथा विसंयोजना करने वालों को क्रमशः १४३ की और १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) आहारक चतुष्क की सत्ता रहित मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों में नेक जीवों की अपेक्षा पूर्व बद्धायुष्क को १४३ की, अबद्धायुष्क को ४३ की तथा एक जीव की अपेक्षा बद्धायुष्क को १४० की तथा बद्धायुष्क को भी १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पहले गुणस्थान में सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करने के बाद मिश्र मोहनीय की उद्वेलना करके इस गुणस्थान में आये तो उसकी अपेक्षा एक एक प्रकृति कम होती है। अर्थात् पहले जहाँ १४३, १४१ और १४० की सत्ता कही जाती है, वहाँ अनुक्रम से १४२, १४० और १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना करने वाले को चार प्रकृतियां कम समझनी चाहिए। अर्थात् जहाँ १४३, १४१ और १४० की सत्ता कही गई है, वहाँ अनुक्रम से १३९, १३८ और १३७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता रहित को अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं होती है। क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीय की मिथ्यात्व की सत्ता रहने पर पहले गुणस्थान में ही उद्वेलना होती है और यहाँ अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं होती है परन्तु यहाँ उस स[illegible] हीन वाले के भी उसकी सत्ता होती है और ऐसे जीव मिश्र मो

तियों के सिवाय १४१ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारक चतुष्क की सत्ता वाला सम्यक्त्व मोहनीय की सत्ता सहित पहले गुणस्थान में होता है। तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाला भी इसी प्रकार है और सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करने के बाद ही पहले गुणस्थान में मिश्र मोहनीय का उद्वेलन होता है।

जीव सामान्य की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के पश्चात् चार गतियों की अपेक्षा अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं। उनमें से अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा चारों गतियों में कर्म प्रकृतियों की सत्ता का क्रम इस प्रकार है—

नरकगति—इस गति के जीव मनुष्य और तिर्यंच इन दो आयुओं को ही बाँध सकते हैं। अतः उक्त दो आयु और भुज्यमान नरकायु ये तीन आयु अनेक जीवों की अपेक्षा से सत्ता में हो सकती हैं तथा अनादि मिथ्यात्वी के पहले कहे गये आठ भेदों में से त्रस पर्याय प्राप्त ऐसे चार भेद ही यहाँ हो सकते हैं। अतः अनुक्रम से तीसरा, चौथा, सातवाँ और आठवाँ—इन चार भेदों की सत्ता नरकगति में पूर्वबद्धायु को अनेक जीवों की अपेक्षा से सम्यक्त्व मोहनीय आदि सात तथा देवायु के बिना १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है। सम्भव सत्ता में भी उक्त कथनानुसार ही सत्ता होती है तथा एक जीव की अपेक्षा १३९ की तथा अबद्धायु को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति में अनादि मिथ्यात्वी के पूर्वोक्त आठ विकल्प हो सकते हैं और तदनुरूप ही सत्ता भी हो सकती है। परन्तु

की उद्वेलना कर कदाचित् मिश्र गुणस्थान में आते हैं और विसंयोजक तो ऊपर के गुणस्थान से आते हैं और वहाँ मिथ्यात्व की सत्ता होने पर भी सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करने वा। विसंयोजक नहीं होता है।

अब चारों गतियों की अपेक्षा मिश्र गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

नरकगति—इस गति में सत्ता तो पूर्वोक्त क्रमानुसार ही हो है। परन्तु इस गति में देवायु की सत्ता नहीं होती है। अतः ज देवायु को गिना गया हो, वहाँ एक प्रकृति कम गिननी चाहिए जैसे कि अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ प्रकृतियों की सत्ता बतलाई ग है, उसकी बजाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता माननी चाहिए।

इसी प्रकार तिर्यंचगति और मनुष्यगति में भी प्रकृतियों की सत समझनी चाहिए। देवगति में यह विशेषता समझनी चाहिए कि इ गति में नरकायु की सत्ता नहीं होती है, किन्तु देवायु की सत्ता हो है। शेष नरकगति के अनुसार समझना चाहिए।

इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में १३७, १३८, १३९, १४०, १४१ १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ ये सत्तास्थान होते हैं।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—इस गुणस्थान में सामान्य से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को सामान्यतः १४६ की और अपनी ही गति की आयु बाँधने वाले को १४५ प्रकृतियों की सत्ता है।

सामान्यतः पूर्वोक्त सत्ता तो सभी प्रकार के सम्यक्त्वों जीवों की अपेक्षा कही है। परन्तु सम्यक्त्व के भेदानुसार सत्ता का विचार करने पर तो उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक

सम्यग्दृष्टि—इन तीन प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा सत्ता का विचार करना पड़ेगा।

उक्त सम्यग्दृष्टि के तीन भेदों में से सबसे पहले उपशम सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का विचार करते हैं।

मोहनीय कर्म का उपशम करने वाले जीवों को उपशम सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उनके दो भेद हैं—(१) अविसंयोजक, (२) विसंयोजक।

अविसंयोजक—इन जीवों में अविसंयोजक अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व बद्धायु जीवों के १४८ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति के बद्धायुष्क को १४६ की तथा उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४५ की और अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ तथा एक जीव की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यहाँ यह विशेष समझना चाहिए कि जिनके तीर्थङ्कर नामकर्म सत्ता में न हो तो उनके एक प्रकृति कम समझना चाहिए। अर्थात् १४८, १४६ और १४५ के बदले क्रमशः १४७, १४५ और १४४ प्रकृतियों का कथन करना चाहिए। यदि आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४८, १४६ और १४५ के बदले १४४, १४२ और १४१ प्रकृतियों की सत्ता समझना और तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क सत्ता में न हों तो अनुक्रम से १४८, १४६ और १४५ के बदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

विसंयोजक—अनन्तानुबन्धी चतुष्क सत्ता में न हो तो भी उसका मूल कारण मिथ्यात्व सत्ता में हो तो उसे विसंयोजक कहते हैं। अतः पूर्व बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी चतुष्क के बिना शेष १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। एक जीव की अपेक्षा अन्य गति

सद्भाव (विद्यमान) सत्ता की दृष्टि से १४५ की और संभव (यदि आयु-बन्ध संभव हो तो उस आयु के साथ) सत्ता की दृष्टि से अनेक जीवों की अपेक्षा अन्यगति की आयु बाँधी हो तो १४६ की और उसी गति की आयु बाँधी हो तो १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनमें भी जो जीव तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता बिना के हों तो उनको १४८, १४६, और १४५ के बदले अनुक्रम से १४७, १४५ और १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४८, १४६ और १४५ के बदले क्रमशः १४४, १४२ और १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—इन पाँच प्रकृतियों की सत्ता रहित जीवों के १४८, १४६ और १४५ के बदले १४३, १४१, और १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विसंयोजक—यहाँ भी ऊपर कहे गये अनुसार ही सत्ता समझना, लेकिन उसमें अनन्तानुबन्धी चतुष्क को कम कर देना चाहिए। अर्थात् जहाँ १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, और १४० प्रकृतियाँ बताई गई हैं, उनके बदले अनुक्रम से १४४, १४३, १४२, १४१ १४०, १३९, १३८, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता कहना चाहिए।

श्रेणी से गिरने वाले जीवों को इसी प्रकार समझना चाहिए।

(२) क्षायिक सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी वालों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क जीवों के दर्शन सप्तक और तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १३९ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं और अबद्धायुष्क के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यहाँ आयुष्य का बन्ध होना संभव नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व अबद्धायुष्क हो और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त होता है। अतः यहाँ संभव सत्ता भी नहीं होती है।

की आयु बाँधने वाले को १४२ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४१ की तथा अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४४ की और एक जीव की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यहाँ यह विशेष समझना चाहिए कि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४४, १४२ और १४१ के बदले क्रमशः १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता तथा आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४४, १४२ और १४१ के बदले अनुक्रम से १४०, १३८ और १३७ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। यदि तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क कुल पाँच प्रकृतियों की सत्ता न हो तो १३९, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

अब क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं।

उदय प्राप्त मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के क्षय तथा अनुदय के उपशम से आत्मा में होने वाले परिणाम विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और इसके लिए प्रयत्न करने वालों को क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इनके भी दो प्रकार हैं—(१) विसंयोजक, (२) अविसंयोजक। इनके भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि को बतलाई गई सत्ता के अनुसार प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिये। किन्तु जब अनन्तानुबन्धी चतुष्क की सत्ता विहीन आत्मा मिथ्यात्व मोहनीय की उद्वेलना कर डालती है, तब पूर्व बद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की; एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४१ की और उसी गति की आयु बांधने वाले को १४० की तथा अबद्धायुष्क को भी १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो ऊपर कहे अनुसार १३९ और १३८ के वदले अनुक्रम से १३८ और १३७ की तथा आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १३९ और १३८ के वदले १३५ और १३४ की एवं तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—ये पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १३९ और १३८ के वदले १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) क्षायिक सम्यक्त्वी क्षपक श्रेणी वाले जीव अबद्धायुष्क ही होते हैं। अतः दर्शन सप्तक और देव, तिर्यंच और नरकायु—इन दस प्रकृतियों के बिना उनके १३८ प्रकृतियों की तथा तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता रहित जीवों के १३७ की तथा आहारक चतुष्क की सत्ता रहित जीवों के १३४ की तथा तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—इन पाँच प्रकृतियों की सत्ता बिना के जीवों के १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार आठवें गुणस्थान में १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते हैं।

(९) **अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान**—उपशम श्रेणि के लिए उपशम और क्षायिक सम्यक्त्वी—सभी को पहले बतलाये गये १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते हैं।

क्षपक श्रेणी करने वाले क्षायिक को भी पहले कहे गये अनुसार ही १३८, १३७, १३४ और १३३ ये चार सत्तास्थान होते हैं। परन्तु अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क—इन आठ प्रकृतियों के क्षय होने पर पूर्वोक्त चार विकल्पों के बजाय

यदि तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४३, १४१ और १४० की वजाय अनुक्रम से १४२, १४० और १३९ की और आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४३, १४१ और १४० के बदले १३९, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क—कुल ये पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४३, १४१ तथा १४० के वदले १३८, १३६ और १३५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि उपर्युक्त सभी विकल्प वालों ने मिश्र मोहनीय की उद्वेलना की हो तो उनके अनन्तानुवन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के विना अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्ववद्धायुष्क को १४२ की, एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४० की तथा उसी गति की आयु बांधी हो तो १३९ की व अबद्धायुष्क को भी १३९ की सत्ता होती है। जिसको तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो, उसे अनुक्रम से १४१, १३९ और १३८ की सत्ता तथा आहारक चतुष्क न हो तो क्रमशः १३८, १३६ और १३५ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। आहारक चतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म ये पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४२, १४० और १३९ के वदले क्रमशः १३७, १३५ और १३४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अव क्षायिक सम्यक्त्वी की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता वतलाते हैं।

अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाले परिणाम को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं और इस प्रकार के सम्यक्त्व वाले जीवों को क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

अनुक्रम से १३०, १२६, १२६ और १२५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इनमें से (१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) तिर्यंचगति, (४) तिर्यंचानुपूर्वी, (५) नरकगति, (६) नरकानुपूर्वी, (७) आतप, (८) उद्योत, (९) निद्रानिद्रा, (१०) प्रचलाप्रचला, (११) स्त्यानर्द्धि, (१२) एकेन्द्रिय, (१३) द्वीन्द्रिय, (१४) त्रीन्द्रिय, (१५) चतुरिन्द्रिय और (१६) साधारण—इन सोलह प्रकृतियों का क्षय होने पर अनुक्रम से ११४, ११३, ११० और १०९ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

अनन्तर सामान्यतः नपुंसकवेद का क्षय होने पर ऊपर वताये गये सत्तास्थानों के वदले क्रमशः ११३, ११२, १०९ और १०८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इनमें से स्त्रीवेद का क्षय होने पर ११२, १११, १०८ और १०७ प्रकृतियों की, इनमें से भी हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर १०६, १०५, १०२ और १०१ प्रकृतियों की और वाद में पुरुषवेद का क्षय होने पर १०५, १०४, १०१ और १०० प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

अव श्रेणीप्रस्थापक की अपेक्षा विचार करते हैं—

(१) **नपुंसकवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का और पुरुषवेद तथा हास्यादि षट्क का उसी समय क्षय करे तो नपुंसकवेद का क्षय होने पर ही ११३, ११२, १०९ और १०८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। हास्यादि षट्क का क्षय होने पर १०६, १०५, १०२ और १०१ प्रकृति वाले सत्ता विकल्प नहीं होते हैं, किन्तु अन्य स्थान पर होने वाले ११३ आदि के विकल्प संभव हैं, परन्तु १०६ प्रकृतियों का सत्तास्थान अन्य किसी प्रसंग पर नपुंसकवेदी क्षपक श्रेणीप्रस्थापक को होता ही नहीं है। इसलिए यह विकल्प तो उसके सर्वथा वर्जित है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि को अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४१ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १३९ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले को १३८ की तथा अबद्धायुष्क को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता न हो तो १४१, १३९ और १३७ के बदले क्रमशः १४०, १३८ और १३६ प्रकृतियों को सत्ता होती है। यदि आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४१, १३९ और १३८ के बदले १३७, १३५ और १३४ की तथा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क कुल पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४१, १३९ और १३८ के बदले क्रमशः १३६, १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

औपशमिक आदि तीनों प्रकार के सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के अनन्तर अब गतियों की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं।

नरकगति—इस गति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जैसे कि इस गति के जीवों के देवायु की सत्ता नहीं होती है। जिनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती है, उनके आहारक चतुष्क की सत्ता नहीं होती है और जिनके आहारक चतुष्क की सत्ता होती है, उनको तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता नहीं होती है। क्षायिक सम्यक्त्व नवीन प्राप्त नहीं करते हैं तथा मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय की उद्वेलना नहीं करते हैं। यदि पूर्व भव में सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की उद्वेलना करते समय मरण हो और पूर्व में नरकायु का बंध किया हो तो नरक गति में आकर उद्वेलना की क्रिया पूरी करते हैं। इसलिए सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक होते हैं किन्तु उद्वेलना करने की क्रिया की शुरूआत नहीं करते हैं।

(२) **स्त्रीवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—पुरुषवेद और हास्यादि षट्क का एक ही समय में क्षय करता है, अतः उस अवसर पर होने वाले १०६, १०५, १०२, और १०१ प्रकृति वाले—ये चार विकल्प संभव नहीं हैं। १०६ का विकल्प पूर्वोक्त रीति से संभव नहीं है। परन्तु अन्य विकल्प तो दूसरे स्थान पर होने से संभव हो सकते हैं।

(३) **पुरुषवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—ऊपर कहे गये अनुसार ही सत्ता-स्थान होते हैं। प्रासंगिक रूप में सामान्यतः कथन कर अब विशेष रूप में विचार करते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि पुरुषवेद का क्षय होने पर १०५, १०४, १०१ और १०० प्रकृतियों के विकल्प शेष रहते हैं। उनमें से संज्वलन क्रोध क्षय होने पर १०४, १०३, १०० और ९९ प्रकृतियों के ये चार विकल्प होते हैं। उनमें से संज्वलन मान का क्षय होने पर १०३, १०२, ९९ और ९८—ये चार विकल्प होते हैं। इसके बाद संज्वलन माया के क्षय से दसवें गुणस्थान की शुरुआत होती है।

इस प्रकार क्षपक को ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२९, १३०, १३३, १३४, १३७ और १३८—ये कुल २५ सत्तास्थान होते हैं तथा अनिवृत्ति गुणस्थान में पूर्वोक्त २५ सत्ता स्थानों में से ९८ से १३४ तक २३ स्थान तथा १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ १४८—ये चौदह स्थान और मिलाने से कुल सैंतीस सत्तास्थान संभावित हैं।

(१०) **सूक्ष्म संपराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान में उपशम श्रेणी वालों को पूर्व गुणस्थान में कहे गये १३३ से १४८ तक के कुल सोलह

सत्तास्थान होते हैं। क्षपक श्रेणी वाले को नौवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारक चतुष्क की सत्ता वाले को १०२ की और तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो तो १०१ की और आहारक चतुष्क रहित तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वाले को ९८ की और तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारकचतुष्क की भी सत्ता न हो तो ९७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का भी क्षय हो जाता है, तब बारहवाँ गुणस्थान प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार दसवें गुणस्थान में ९७, ९८, १०१, १०२ और १३३ से १४८ तक के सोलह स्थान कुल मिलाकर बीस सत्तास्थान होते हैं। क्षपक श्रेणी करने वाला सीधा दसवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान को ही प्राप्त करता है।

(११) **उपशान्तमोह गुणस्थान**—इस गुणस्थान में भी १३३ से लेकर १४८ तक के सोलह सत्ता विकल्प होते हैं। इस गुणस्थान में आया हुआ जीव अवश्य ही नीचे गिरता है।

(१२) **क्षीणमोह वीतराग गुणस्थान**—दसवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय होने से क्रमशः १०१, १००, ९७ और ९६ प्रकृति वाले चार विकल्प होते हैं तथा द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला का क्षय होने से क्रमशः ९९, ९८, ९५, और ९४ प्रकृति वाले चार विकल्प होते हैं। इसके अनन्तर बारहवें गुणस्थान के अन्त में चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शनावरण, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाँच ज्ञानावरण तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इन पाँच अन्तराय कुल मिलाकर चौदह प्रकृतियों का क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान को शुरूआत होती है।

परन्तु यह विशेषता है कि जो जीव सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना कर यहाँ आये हों तो ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुवन्धी चतुष्क ये प्रकृतियाँ सत्ता में नहीं होती हैं। क्योंकि उनके आगामी भव की आयु का बन्ध अपनी आयु के छह माह बाकी रहें तब होता है। जो सम्यक्त्व मोहनीय का उद्वेलन करते हुए मर कर आया हुआ जीव अल्प समय में ही क्षायिक सम्यक्त्वी होता है। यद्यपि ('क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी सम्यक्त्व वमन करने के बाद ही नरकगति में आता है' ऐसा कहा गया है, परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना करने वाला सम्यग्दृष्टि चारों गति में जाता है, ऐसा छठे कर्मग्रन्थ में भी कहा गया है, उससे किसी प्रकार का विसंवाद नहीं समझना चाहिए। कि सम्यक्त्व मोहनीय आदि प्रकृतियों की उद्वेलना करने वाला क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने की तैयारी करता है और उसकी अपेक्षा उ भी क्षायिक सम्यक्त्वी कहा जाता है।)

इसलिए सम्यक्त्व मोहनीय के उद्वेलक ऐसे सब नारकी जीवों की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है। एक जीव की अपेक्षा आहारक चतुष्क की सत्ता रहित तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाले के १३५ की तथा तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहित आहारक चतुष्क की सत्ता वाले के १३८ की सत्ता होती है। परन्तु तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारक चतुष्क की सत्ता से रहित जीवों के १३४ की सत्ता होती है।

क्षायिक सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों के दर्शन सप्तक सत्ता में होता ही नहीं है तथा चौथे गुणस्थान से कभी भी नहीं गिरने के कारण मनुष्यायु का ही वन्ध करते हैं। अतः शेष तीन आयु उनको होती ही नहीं हैं। इसलिए उक्त नौ प्रकृतियों

इस प्रकार बारहवें गुणस्थान में ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १०० और १०१—ये आठ विकल्प होते हैं।

(१३) **सयोगि केवली गुणस्थान**—बारहवें गुणस्थान के अन्त में चौदह प्रकृतियों के क्षय होने से पूर्व जो ९४, ९५, ९८ और ९९—ये चार विकल्प हुए हैं, उनमें से चौदह प्रकृतियों के क्षय होने से तेरहवें गुणस्थान में उक्त चार विकल्पों के वदले ८०, ८१, ८४ और ८५ ये चार विकल्प वाले सत्तास्थान होते हैं।

यह विशेष समझना चाहिए कि आहारक चतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता वालों को ८५ की, तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता न हो तो ८४ की, आहारक चतुष्क न हो तो ८१ की और तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारक चतुष्क कुल पाँच प्रकृतियों की सत्ता न हो तो ८० प्रकृतियों की सत्ता होती है। इस प्रकार इस गुणस्थान में ८०, ८१, ८४, और ८५ प्रकृतियों वाले चार सत्ता विकल्प होते हैं।

(१४) **अयोगि केवली गुणस्थान**—इस गुणस्थान में द्विचरम समय तक पूर्वोक्त ८०, ८१, ८४ और ८५ प्रकृति वाले चार सत्तास्थान होते हैं। इसके बाद ८५ प्रकृतियों के सत्तास्थान वाले के देवगति, देवानुपूर्वी, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, पाँच रस, पाँच शरीर, पाँच वन्धन, पाँच संघातन, निर्माण, छह संहनन, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, छह संस्थान, अगुरुलघु चतुष्क, अपर्याप्त, साता अथवा असाता वेदनीय में से कोई एक, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, औदारिक, वैक्रिय और आहारक अंगोपांग, सुस्वर और नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियों के क्षय होने पर १३ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व बद्धायुष्क जीवों के १३९ की और अवद्धायुष्क के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहित जीव पूर्ववद्धायुष्क हों तो १३८ की तथा अबद्धायुष्क हों तो १३७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाले हों तो आहारक चतुष्क के बिना पूर्ववद्धायुष्क के १३५ की तथा अवद्धायुष्क के १३४ की तथा तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क ये पाँच प्रकृतियाँ न हों तो पूर्वबद्धायुष्क के १३४ की और अवद्धायुष्क के १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति वाले जीवों के तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता होती ही नहीं है। इसलिए उपशम सम्यक्त्वी अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्ववद्धायुष्क को १४७ की, अन्य गति के आयुवन्धक को एक जीव की अपेक्षा १४५ की, अवद्धायुष्क तथा उसी गति के आयुबन्धक को १४४ की तथा आहारक चतुष्क की सत्ता न हो तो १४७, १४५ और १४४ के बदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

तिर्यंचगति में अविसंयोजक और विसंयोजक—ये दो प्रकार नहीं होते हैं। क्योंकि पहले गुणस्थान में तीन करण करने से जो उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व तिर्यंचों को होता है, परन्तु श्रेणि का सम्यक्त्व नहीं होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तिर्यंचों के पूर्ववद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव के यदि अन्य गति की आयु वाँधी हो तो १४५ की और उसी गति की आयु बाँधने वाले तथा अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो १४७, १४५ और १४४ के बदले क्रमशः १४३, १४१

अन्य मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी सहित ७३ के क्षय होने पर १२ कृतियाँ शेष रहती हैं।

तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता रहित जीवों के ७२ प्रकृतियों के क्षय ने पर १२ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

दूसरे मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी सहित ७३ प्रकृतियों का क्षय होने र ११ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

सारांश यह है कि ग्रन्थकार के मतानुसार १२ और १३ प्रकृतियों ा तथा अन्य मतानुसार १२ और ११ प्रकृतियों के स्थान होते तथा आहारक चतुष्क सत्ता में न हो तो ६८ प्रकृतियों का क्षय होता । क्योंकि पहले कही गई ७२ प्रकृतियों में आहारक चतुष्क का ग्रहण किया गया है और आहारक चतुष्क तो इस जीव को सत्ता में ही नहीं , अतः ६८ प्रकृतियों का ही क्षय होता है। अतएव मनुष्यगति, चेन्द्रिय जाति, त्रस, वादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर नामकर्म, उच्चगोत्र, मनुष्यायु और मनुष्यानुपूर्वी साता या असाता वेदनीय में से कोई एक—ये तेरह प्रकृतियाँ और अन्य मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी के बिना वारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

लेकिन जिनके तीर्थंकर नामकर्म और आहारक चतुष्क सत्ता में न हो, उनके भी ६८ प्रकृतियां क्षय होती हैं, परन्तु तीर्थंकर नामकर्म के विना वारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। अन्य मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी के विना ग्यारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

इस प्रकार स्वमतानुसार १२, १३ प्रकृतियों का सत्तास्थान तथा अन्य मतानुसार ११ और १२ प्रकृतियों का तथा ८०, ८१, ८४ और ८५—ये छः सत्तास्थान चौदहवें गुणस्थान में होते हैं।

और १४० प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय सत्ता में न हों तो १३८ की सत्ता होती है।

क्षायिक सम्यक्त्वी को पूर्वोक्त १३८ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व मोहनीय के विना अवद्धायुष्क को १३७ की तथा आयु बाँधने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। ये आयु बाँधने वाले देवायु को ही बाँधते हैं। यदि आहारक चतुष्क की सत्ता रहित हों तो १३८ और १३७ के वदले १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

मनुष्यगति—उपशम सम्यक्त्वी को प्रारम्भ में वतलाई गई सत्ता के अनुसार ही सत्ता होती है, परन्तु अवद्धायुष्क को जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, वह चारों गतियों की अपेक्षा कही गई है। परन्तु यहाँ मनुष्यगति की अपेक्षा से विचार किया जा रहा है। अतः १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्वी के भी विशेषता समझना चाहिए। अन्य सब में उसी प्रकार सत्ता समझ लेनी चाहिए।

देवगति—नरकगति के समान ही इस गति में प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। परन्तु विसंयोजक की अपेक्षा १४२, १४१, १४०, १३९ और १३८—ये पाँच सत्तास्थान अधिक होते हैं।

इस प्रकार चौथे गुणस्थान में १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ और १४८—ये सोलह सत्ता विकल्प समझना चाहिए।

(५) **देशविरति गुणस्थान**—चौथे गुणस्थान के अनुसार ही इस गुणस्थान में भी सोलह सत्ता विकल्प होते हैं। परन्तु विशेषता यह है कि यह गुणस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति के जीवों को ही होता है।

अनन्तर चरम समय में बाकी बची हुई समस्त प्रकृतियों का क्षय कर अनादि सम्बन्ध वाले कार्मणशरीर को छोड़कर जन्म-मरण से मुक्त हो मोक्ष में अनन्त काल तक विराजमान रहते हैं।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों की सत्ता का वर्णन पूर्ण हुआ। विशेष जानकारी के लिए साथ में दिये गये सत्तायन्त्र को देखिए।

कालगणना : जैनदृष्टि

शास्त्रों में काल-सूचक समय, आवली, घड़ी, मुहूर्त, पल्योपम आदि शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया जाता है। इन से यह ज्ञात होता है कि काल एक क्षण मात्र ही नहीं है, लेकिन क्रमबद्ध धारा प्रवाह रूप से परिवर्तनशील है। आधुनिक वैज्ञानिक भी काल को प्रवाहात्मक मानकर इसके अनेक सूक्ष्म अंशों की जानकारी तक पहुँच चुके हैं। लेकिन आगमों में इन सूक्ष्म अंशों के भी अनेक सूक्ष्म अंश होने की विवेचना करके उसकी अनन्तता को सिद्ध किया है।

यह विवेचना जिज्ञासुओं को बोधप्रद एवं ज्ञातव्य होने से संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। विशेष जानकारी के लिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि शास्त्र एवं आचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों को देखना चाहिए।

जैनदर्शन में जीवादि छह द्रव्यों के समूह को लोक कहा है। इन छह द्रव्यों में एक काल भी है। अन्य जीवादि द्रव्यों का लक्षण, भेद प्रभेद आदि-आदि के द्वारा जिस प्रकार का सूक्ष्मतम वर्णन किया गया है, उसी प्रकार काल का भी वर्णन किया है।

अत: जहाँ-जहाँ अवद्धायुष्क के प्रसंग में सत्ता वतलाते हुए चारों आयु सत्ता में मानी गई हैं, वहाँ सिर्फ तिर्यंचायु और मनुष्यायु—ये दो आयु ही गिनना चाहिए।

जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि पूर्व वद्धायुष्क उपशम अथवा क्षायोपशमिक अविसंयोजक के अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, उसके वदले इस गुणस्थान में नरकगति और देवगति नहीं होने से—ये दो गतियाँ नहीं होती हैं। इसलिए १४६ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचायु भी नहीं होने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

तिर्यंचगति—चौथे गुणस्थान के समान ही ये जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, परन्तु जो जीव मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय का क्षय करके इस गति में आये हों तो उन्होंने जो सत्ता कम की हो, वह इस गुणस्थान में नहीं होती है। क्योंकि ऐसे जीव असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच में उत्पन्न होते हैं और वे पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं करते हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व भी नहीं होता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व की भी सत्ता यहाँ नहीं समझना चाहिए। यहाँ तो सिर्फ उपशम तथा क्षायोपशमिक, अविसंयोजक और विसंयोजक से सम्वन्धित सत्ता समझना चाहिए।

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान**—यहाँ भी १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३ ये सोलह सत्तास्थान हो सकते हैं और यह गुणस्थान मनुष्य को ही होता है, अतः जिस-जिस स्थान पर अवद्धायुष्क के आश्रय से अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ की सत्ता कही गई हो, वहाँ १४५ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। क्योंकि यह गुणस्थान मनुष्य को ही

सर्वप्रथम कालद्रव्य की व्याख्या करते हुए बताया है कि जो द्रव्य जीव-अजीव द्रव्यों पर वरतता है, एवं उनकी नवीन, पुरातन आदि अवस्थाओं के बदलने में निमित्त रूप से सहायता करता है, उसे काल कहते हैं। यद्यपि धर्मादि द्रव्य अपनी नवीन पर्याय उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं, तथापि वह पर्याय भी बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं होती है और वह सहकारी कारण कालद्रव्य है। कालद्रव्य का उक्त लक्षण स्वयं काल के शाब्दिक अर्थ से ध्वनित हो जाता है—

कल्यते, क्षिप्यते, प्रेर्यते येन क्रियावद् द्रव्यं स कालः।[1]

जिसके द्वारा क्रियावान द्रव्य कल्यते······अर्थात् प्रेरणा किये जाते हैं, वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य न तो स्वयं परिणमित होता है और न अन्य को अन्य रूप में परिणमाता है, यानी प्रेरक होकर अन्य द्रव्यों का परिणमन नहीं करता है, किन्तु स्वतः नाना प्रकार के परिणामों को प्राप्त होने वाले पदार्थों के लिए काल कारण होता है।

अब प्रश्न होता है कि कालद्रव्य है; कालद्रव्य का अस्तित्व है ? यह कैसे जाना जाये ! तो इसका उत्तर यह है कि समयादिक क्रिया विशेषों की और समयादि द्वारा होने वाले पाक आदिक की समय, पाक इत्यादि रूप से अपनी-अपनी रौढ़िक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें समय, काल, पाककाल इत्यादि रूप से काल संज्ञा का आरोप होता है और इस संज्ञा से निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है।

यह कालद्रव्य असंख्यात है और मुख्य काल वर्तना रू
प्रकार मुख्य काल के आधार से ही गौण—० ार काल

1. राज वा० ४/१४/२२२/१२

होता है। अन्य सब सत्तास्थान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बताई गई प्रकृतियों की सत्ता के अनुसार ही समझना चाहिए।

(७) **अप्रमत्त गुणस्थान**—इस गुणस्थान में भी छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समान १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते हैं।

(८) **अपूर्वकरण गुणस्थान**—मनुष्य, तिर्यंच और नरकायु के व वाले और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव इस गुणस्थान में नहीं हो हैं। इस गुणस्थान के सामान्यतया तीन प्रकार हैं—

(१) उपशम सम्यक्त्वी, उपशम श्रेणी वाले जीव।
(२) क्षायिक सम्यक्त्वी, उपशम श्रेणी वाले जीव।
(३) क्षायिक सम्यक्त्वी, क्षयक श्रेणी वाले जीव।

इनमें से उपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी वाले जीवों की अपेक्ष प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं।

ये जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) श्रेणी से पतित होने वा और श्रेणी को मांड़ने वाले। परन्तु इन दोनों की सत्ता में कोई विशे षता नहीं है तथा ये दोनों भी अविसंयोजक और विसंयोजक ऐसे द प्रकार के होते हैं। अर्थात् श्रेणि से पतित होने वाले के अविसंयोजव और विसंयोजक—ये दो भेद हैं। इसी प्रकार श्रेणि मांड़ने वाले के भी अविसंयोजक और विसंयोजक—ये दो भेद हैं

अविसंयोजक—अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्व वद्धायुष्क के पूर्व में बाँधी गई देवायु और उदयमान मनुष्यायु के सिवाय वाकी की दो आयु के विना १४६ की और एक जीव की अपेक्षा अवद्धायुष्क को

मिनट, दिन-रात, पक्ष-मास आदि के रूप में और इनके द्वारा परिवर्तन रूप मुख्य काल का ज्ञान करते हैं, यह मुख्य काल एक-एक अणु के रूप में लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर विद्यमान है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। अतः कालाणु भी असंख्यात हैं। व्यवहार काल के सबसे सूक्ष्मतम अंश का नाम समय है, यानी काल गणना का केन्द्र-बिन्दु समय है और उसके बाद निमिष, घड़ी, दिन-रात आदि की हम जानकारी करते हैं। इन समयादि की उत्पत्ति का कारण भी इस मनुष्यलोक में मेरु की नित्य प्रदक्षिणा करने वाले सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिषी देव हैं। इनकी गति से दिन-रात्रि आदि का व्यवहार मनुष्य लोक में होता है।

कालद्रव्य के सूक्ष्मतम अंश को समय कहते हैं और समय की परिभाषा यह है कि जिस आकाश प्रदेश पर जो कालाणु अवस्थित है जब उस आकाश प्रदेश को पुद्गल परमाणु मंदगति से उल्लंघन कर अन्य प्रदेश पर पहुँच जाता है तो उस प्रदेश मात्र के अतिक्रमण के परिमाण के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्म वृत्ति रूप समय है वह कालद्रव्य की समय रूप पर्याय है।

व्यवहारकाल के भेद

व्यवहारकाल का सबसे सूक्ष्मतम अंश समय है। इस 'समय' के पश्चात ही अन्य उत्तरवर्ती काल की गणना होती है। यह गणना इस प्रकार है—

असंख्य समय की आवली (आवलिका) होती है और २५६ आवलिका का एक क्षुल्लकभव (सब से छोटी आयु) और कुछ अधिक सत्रह भवों जो साधिक ४४४६ आवलिका प्रमाण होते हैं, का एक प्राण

श्वासोच्छ्वास होता है ! सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव,[१] साढ़े अड़तीस लव की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त की एक दिन-रात्रि ।

एक मुहूर्त में ६५५३६ क्षुल्लकभव होते हैं और १६७७७२१६ आवलिकायें होती हैं । एक दिन-रात्रि के अनन्तर १५ दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन (छह माह), दो अयन का एक वर्ष, पांच वर्ष का एक युग, दो युग का एक वर्ष दशक और इस वर्ष दशक के उत्तरोत्तर समय में १० से गुणा करने पर शत, सहस्त्र, लाख, करोड़, अरब, खरब आदि की संख्या निकलती जाती है, जिसे साधारण तौर सभी जानते हैं ।

लेकिन जैन समय गणित में सामान्य ज्ञान के आगे के समय की गणना करने के लिये पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित आदि का नामोल्लेख किया है और उन सवमें अन्तिम नाम शीर्ष प्रहेलिका है । इनमें ८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है और ८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर एक पूर्व का प्रमाण निकलता है । जिसमें ७० लाख करोड़ वर्ष होते हैं । ऐसे २८ बार गुणा करने से ५४ अंकों पर १४० बिन्दियां आ जाती हैं, जिसे शीर्ष प्रहेलिका कहते हैं । यहां गणित संख्यात की सीमा समाप्त हो जाती है और इसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि उपमाओं के द्वारा समझाया है ।

---

१. आधुनिक समय गणित के अनुसार उच्छ्वास, स्तोक, लव का प्रमाण इस प्रकार समझ सकते हैं—

संख्यात आवली $\frac{२८८०}{३७७३}$ सैकेंड एक उच्छ्वास । ७ उच्छ्वास = ५ $\frac{१८५}{५३९}$ सैकेण्ड = स्तोक । ७ स्तोक = ३७ $\frac{३१}{७७}$ सैकेण्ड = लव । साढ़े अड़तीस लव = २४ मिनट (घड़ी) ।

है तो वह उसमें नहीं गिना जाता है। इस प्रकार अनेक भव करता हुआ जीव कालचक्र के प्रत्येक समय को स्पर्श कर लेता है। तव वह वादर काल पुद्गल परावर्तन पूरा होता है।

६. **सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन**—कालचक्र के प्रत्येक समय को जीव जव क्रमशः मृत्यु द्वारा स्पर्श करता है तो वह सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन है। इसमें अक्रम से समय को स्पर्श किया तो उसका ग्रहण नहीं होता है। जैसा कि अगर पहले समय को स्पर्श कर तीसरे समय को स्पर्श कर ले तो वह गिनती में नहीं लिया जायेगा। यानी क्रमवद्ध रूप से कालचक्र के समयों को स्पर्श कर पूरे कालचक्र के समयों को स्पर्श करना सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन है।

७. **वादर भाव पुद्गल परावर्तन**—अनुभागबंध के कारण रूप समस्त पाय स्थानों को जीव अपनी मृत्यु द्वारा स्पर्श कर लेता है। अर्थात् द, मंदतर आदि उनके सभी परिणामों में एक वार मृत्यु प्राप्त कर ता है तव उसे वादर भाव पुद्गल परावर्तन कहते हैं।

८. **सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्तन**—अनुभाग बन्ध के कारण भूत पाय स्थानों को क्रम से जितने समय में स्पर्श करता है अर्थात् किसी व के मंद परिणाम को स्पर्श करने के वाद अगर वह दूसरे भावों े स्पर्श करता है, तो वह उसमें नहीं गिना जायेगा। लेकिन जव उसी व के दूसरे परिणाम का स्पर्श करेगा तभी वह गिना जायेगा। स प्रकार क्रमशः प्रत्येक भाव के सभी परिणामों को स्पर्श करता आ जीव जव सभी भावों का स्पर्श कर लेता है तव सूक्ष्म भाव द्गल परावर्तन पूर्ण होता है।

उक्त आठ भेदों में वादर भेदों का स्वरूप केवल सूक्ष्म परावर्तनों को समझाने के लिए दिया गया है। शास्त्रों में जहाँ पुद्गल परावर्तन ाल का निर्देश आता है, वहाँ सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन ही लेना

पल्योपम-सागरोपम की व्याख्या

पल्योपम और सागरोपम का शास्त्रों में अतिसूक्ष्म रूप से विचार किया गया है। जिज्ञासु जन विशेष ज्ञान के लिए शास्त्रों के सम्बन्धित अंश देख लेवें।[1] यहां तो संक्षेप में उनका संकेत किया जा रहा है।

शास्त्रों में पल्योपम और सागरोपम के काल प्रमाण को उदाहरण द्वारा समझाया गया है। उक्त उदाहरण इस प्रकार है—

चार कोस (एक योजन) लम्बा, चौड़ा और गहरा कुँआ एक-दो-तीन यावत सात दिन वाले देवकुरु उत्तारकुरु युगलिकों के वालों के असंख्य खण्ड करके उन्हें दबाकर इस प्रकार भरा जाये कि वे वाल खण्ड हवा में न उड़ सकें और कूप ठसाठस भर जाये। फिर सौ-सौ वर्ष के वाद एक-एक खण्ड निकाला जाये, निकालते-निकालते जब वह कुंआ खाली हो जाये, तब वह एक पल्योपम काल होता है (इसमें असंख्य वर्ष लगते हैं)। तथा दस कोड़ाकोड़ (१० करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना) पल्योपम का एक सागरोपम होता है। दस कोड़ाकोड़ सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल और इतने ही काल अर्थात् दस कोड़ाकोड़ सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है। दोनों को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है। जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है। ऐसे अनन्त कालचक्रों का एक पुद्‌गल परावर्तन होता है। दूसरे शब्दों में इसे अनन्तकाल कह सकते हैं।

---

१. (क) काल का विचार जम्बूद्वीप पन्नत्ति कालाधिकार में संगृहीत है।
 (ख) अनुयोगद्वार १३८ से१४०।
 (ग) प्रवचनसारोद्धार—द्वार १५८ गाथा १०१८—१०२६।

चाहिए। जैसे सम्यक्त्व प्राप्ति के वाद जीव देशोन अर्ध पुद्गल परावर्तन में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। वहाँ काल का सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन ही लिया जाता है।

इस प्रकार से जैन-वाङ्मय में काल गणना का अति सूक्ष्म, गम्भीर और तलस्पर्शी विवेचन किया गया है। अपेक्षा भेद से हम काल की समय से लेकर भूत, वर्तमान, भविष्य, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि के रूप में गणना कर लें। लेकिन इन भेद प्रभेदों से उसकी अनन्तता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है। इसीलिए लोक, जीव आदि द्रव्यों को काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त माना है। लोक अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। इस लोक में विद्यमान संसारी जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के वाद अनन्त संसार का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तुलनात्मक मंतव्य

(श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्यता)

सामान्यतया कर्मों की बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता प्रकृतियों की संख्या एवं गुणस्थानों, मार्गणाओं में कर्मों के बन्ध आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिकों, कर्मग्रन्थकारों तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित कर्मसाहित्य के विषय-प्रतिपादन में अधिकांशतः समानता परिलक्षित होती है। कथंचित् भिन्नता भी है जो कर्म विषयक अध्ययन और मनन के योग्य होने से कतिपय विन्दुओं को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

गुणस्थान का लक्षण

श्वेताम्बर ग्रन्थों में गुणस्थान की व्याख्या—ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप को

पल्योपम और सागरोपम के उद्धार, अद्धा और क्षेत्र यह तीन भेद हैं। और यह तीनों भेद भी व्यवहार तथा सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाने से कुल मिलाकर छह भेद हो जाते हैं। उद्धार से द्वीप समुद्रों की, अद्धा भेद के द्वारा कर्मस्थिति आदि की तथा क्षेत्र भेद से दृष्टिवाद में द्रव्यों की गणना की जाती है।

काल के संख्यात, असंख्यात, अनन्त रूप

पुद्गल परावर्तन के रूप में काल अनन्त है, वैसे ही वह संख्यात, असंख्यातात्मक भी है। सामान्यतया जिसकी गिनती की जा सके, उसे संख्यात, संख्यातीत को असंख्यात और जिसका अन्त नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। इनमें से संख्यात समय सान्त रूप ही होता है। असंख्यात भी सान्त है, लेकिन अनन्त का व्यय होते हुए भी उसका कभी अन्त नहीं आता है। इसीलिए असंख्यात और अनन्त में यह अन्तर है कि एक-एक संख्या को घटाते जाने पर जिस राशि का अन्त आ जाये अर्थात् जो राशि समाप्त हो जाती है, वह असंख्यात है। और जिस राशि का अन्त नहीं आता, जो राशि समाप्त नहीं होती, उसे अनन्त कहते हैं।

संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद और उनकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिए।

संख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। 'एक' गिनती नहीं है। वह तो वस्तु का स्वरूप है, अतः दो से प्रारम्भ होने वाली गिनती को गणना कहते हैं यानी एक संख्या तो अवश्य है लेकिन गणना का प्रारम्भ दो से होता है, जैसे दो, तीन, चार आदि। इस गणना में दो की संख्या को जघन्य संख्यात कहते ने लेकर उत्कृष्ट से एक कम तक की संख्या को मध्‍ कहते हैं।

गुणस्थान कहते हैं—की गई है। परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में गुणस्थान की व्याख्या इस प्रकार है—'दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के उदय आदि अवस्थाओं के समय जो भाव होते हैं, उनसे जीवों का स्वरूप जाना जाता है, इसलिए वे भाव गुणस्थान कहलाते हैं।'

—गोम्मटसार जीवकाड गा० ८

आगमों में गुणस्थान शब्द के लिए जीवस्थान शब्द प्रयोग देखने में आता है। गुणस्थान शब्द का प्रयोग आगमोत्तर कालीन आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रन्थों एवं अन्य ग्रन्थों में किया गया है। षटखण्डागम की धवला टीका में गुणस्थानों के लिए 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग देखने में आता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव गुणों में रहता है अतः उसे जीवसमास कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड गा० ६२१) में गुणस्थान के क्रम से जीवों के पुण्य, पाप दो भेद किए हैं। मिथ्यात्वी या मिथ्यात्वोन्मुखी जीवों को पाप जीव और सम्यक्त्वी जीवों को पुण्य जीव कहा है।

देशविरत के ११ भेद दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड गा० ४७६) में हैं। जैसे १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. प्रोषध, ५. सचित्तविरति, ६. रात्रिभोजनविरति, ७. ब्रह्मचर्य, ८. आरम्भविरति, ९. परिग्रहविरति, १०. अनुमतिविरति, ११. उद्दिष्टविरति। इनमें 'प्रोषध' शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रसिद्ध 'पौषध' शब्द के स्थान पर है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थकारों ने गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियाँ समान मानी हैं। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थों (गो० कर्मकांड) में सातवें गुणस्थान-अप्रमत्तविरत गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का और श्वेताम्बर कर्मग्रन्थकारों ने ५८ या ५९ प्रकृतियों का बंध माना है।

उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप इस प्रकार है—कल्पना से जम्बूद्वीप की परिधि जितने तीन पल्य (कुंए) माने जायें अर्थात् प्रत्येक पल्य की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोस १२८ धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक हो। एक एक लाख योजन की लम्बाई चौड़ाई हो। एक हजार योजन की गहराई तथा जम्बूद्वीप की वेदिका जितनी (आठ योजन) ऊँचाई हो। इन तीनों पल्यों के नाम क्रमशः शलाका, प्रतिशलाका एवं महाशलाका हों।

सर्व प्रथम शलाका पल्य को सरसों से परिपूर्णरूप से भरकर कल्पना से कोई व्यक्ति एक दाना जम्बूद्वीप में, एक दाना लवण समुद्र में इस प्रकार प्रत्येक द्वीप समुद्र में डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र में वे सरसों के दाने समाप्त हो जायें, इतने विस्तार वाला एक अनवस्थित पल्य बनाया जाये फिर उसे सरसों में भरकर एक दाना शलाका पल्य में डालकर पहले डाले हुए द्वीप समुद्रों के आगे पूर्ववत डालता जाये। इस प्रकार बड़े विस्तार वाले अनवस्थित पल्यों की कल्पना करते हुए एवं शलाका पल्य में एक एक दाना डालते हुए जब शलाका पल्य इतना भर जाये कि उसमें एक दाना भी न समा सके और अनवस्थित पल्य भी पूरा भरा हुआ हो। उस स्थिति में शलाका पल्य से एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डालें और फिर आगे के द्वीप समुद्रों में डालता जाये। जब यह शलाका पल्य खाली हो जाये तो फिर उसे पहले की तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तार वाले नये-नये अनवस्थित पल्यों की कल्पना करके उन्हें भरे। जब वे पूरे हो जायें तब एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डाल कर शेष दाने द्वीप समुद्र में डालता हुआ खाली करे। इस प्रकार अनवस्थित से शलाका और अनवस्थित शलाका से प्रतिशलाका पल्य को भर दे।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये बिना सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५६ प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं और जो जीव छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देवायु के बंध को छठे गुणस्थान में ही समाप्त करते हैं अर्थात् देवायु के बंध को समाप्त करने के बाद सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृतियों का बंध होता है। (विशेष गा० ७, ८ की व्याख्या में देखिए।)

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थों में गुणस्थानों की उदय व उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ समान मानी हैं। लेकिन यह समानता दिगम्बर ग्रन्थ गो० कर्मकांड गा० २६४ में उल्लिखित भूतबलि आचार्य के मतानुसार मिलती है और उसी ग्रन्थ में (गा० २६३) व्यक्त यतिवृषभाचार्य के मत से कहीं मिलती है और कहीं नहीं मिलती है। यतिवृषभाचार्य पहले गुणस्थान में ११२ प्रकृतियों का और चौदहवें गुणस्थान में १३ प्रकृतियाँ का उदय मानते हैं। कर्मग्रन्थ में पहले गुणस्थान में ११७ और चौदहवें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय बताया है।

सातवें आदि गुणस्थानों में वेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं होती, इससे उन गुणस्थानों में आहार संज्ञा को दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड गा० १३८) में नहीं माना है। परन्तु उक्त गुणस्थानों में उक्त संज्ञा को मानने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती है क्योंकि उन गुणस्थानों में असातावेदनीय के उदय आदि के अन्य कारण सम्भव हैं।

कर्मग्रन्थ में दूसरे गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी है। परन्तु दिगम्बर ग्रन्थ (गो० कर्मकांड) में आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म इन तीन प्रकृतियों के सिवाय

उसके भरने के बाद एक दाना महाशलाका पल्य में डालकर पूर्व विधि से प्रतिशलाका पल्य को द्वीप समुद्रों में खाली करे। ऐसे अनवस्थित से शलाका, अनवस्थित शलाका से प्रतिशलाका तथा अनवस्थित शलाका-प्रतिशलाका से महाशलाका को भरने पर जब चारों पल्य पूरे भर जायें। तब उनके सरसों के दानों का एक ढेर लगाये। उस ढेर में से यदि एक दाना निकाल लिया जाये तो वह उत्कृष्ट संख्यात है।

असंख्यात के नौ भेद इस प्रकार हैं—

१. उक्त उत्कृष्ट संख्यात में यदि एक दाना और मिला दिया जाय तो वह असंख्यात का पहला भेद जघन्य परीतासंख्यात है।

२. पहले और तीसरे भेद के बीच की संख्या असंख्यात का दूसरा भेद मध्यम परीतासंख्यात है।

३. असंख्यात के प्रथम भेद के दानों की जितनी संख्या है, उनका अन्योन्याभ्यास[1] करने पर अर्थात् उनके अलग-अलग ढेर लगाकर फिर उनका परस्पर गुणा करने पर जो संख्या आये, उसमें से एक दाना कम करने पर असंख्यात का तीसरा भेद उत्कृष्ट परीतासंख्यात कहलाता है।

४. असंख्यात के तीसरे भेद की राशि में एक दाना मिलाने पर असंख्यात का चौथा भेद जघन्य युक्तासंख्यात बनता है। एक आवली में इतने ही असंख्य समय होते हैं।

---

१. अन्योन्याभ्यास और गुणा में अन्तर—पाँच को पाँच से गुणा करने पर ५×५ = २५ होते हैं। और अन्योन्याभ्यास करने से ३१२५ होते हैं। सर्वप्रथम ५-५-५-५-५ इस तरह पाँच को पाँच जगह स्थापित करके फिर एक दूसरे से गुणा किया जाता है जैसे ५×५=२५, २५×५=१२५, १२५×५=६२५, ६२५×५=३१२५।

१४५ प्रकृतियों की सत्ता मानी है। इसी प्रकार गो० कर्मकांड गा० ३३३-३३६ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को नरकायु की सत्ता नहीं होती और छठे व सातवें गुणस्थान में नरकायु व तिर्यंचायु इन दो की सत्ता नहीं होती। अतः उस ग्रन्थ के अनुसार पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छठे, सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी है किन्तु कर्मग्रन्थ के अनुसार पाँचवें गुणस्थान में नरकायु की और छठे, सातवें गुणस्थान में नरकायु, तिर्यंचायु की सत्ता भी हो सकती है।

५. चौथे और छठे के बीच की संख्या को मध्यम युक्तासंख्यात कहते हैं।

६. असंख्यात के चौथे भेद की सरसों की राशि को परस्पर गुणा करने से प्राप्त राशि में से एक दाना निकालने पर असंख्यात का छटवाँ भेद उत्कृष्ट युक्तासंख्यात कहलाता है।

७. छठे भेद की सरसों की राशि में एक दाना मिलाने पर जघन्या-संख्यातासंख्यात कहलाता है।

८. सातवें और नौवें भेद के बीच की संख्या मध्यमासंख्याता-संख्यात है।

९. सातवें भेद की सर्षपराशि का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त राशि में से एक दाना कम करने पर प्राप्त होने वाली राशि उत्कृष्टा-संख्यातासंख्यात कहलाती है।

अनन्त के आठ भेद इस प्रकार हैं—

१. असंख्यात के नौवें भेद की संख्या में एक मिलाने पर अनन्त का पहला भेद होता है। जिसे जघन्य परीतानन्त कहते हैं।

२. अनन्त के पहले और तीसरे भेद के बीच की संख्या मध्यम परीतानन्त कहलाती है।

३. अनन्त के पहले भेद की संख्या का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त संख्या में से एक कम करने पर अनन्त का तीसरा होता है। उसे उत्कृष्ट परीतानन्त कहते हैं।

४. अनन्त के तीसरे भेद की संख्या में एक मिलाने पर अनन्त का चौथा भेद जघन्य युक्तानन्त कहलाता है।

५. अनन्त के चौथे और छठे भेद के बीच की संख्या मध्यम युक्तानन्त है।

बंध यंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अबंध
	सामान्य	८	१२०	५	९	२	२६	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	३
२	सासादन	८	१०१	५	९	२	२४	३	५१	२	५	१९
३	मिश्र	७	७४	५	६	२	१९	०	३६	१	५	४६
४	अविरत	८	७७	५	६	२	१९	२	३७	१	५	४३
५	देशविरत	८	६७	५	६	२	१५	१	३२	१	५	५३
६	प्रमत्तसंयत	८	६३	५	६	२	११	१	३२	१	५	५७
७	अप्रमत्तविरत	८/७	५९/५८	५	६	१	९	१/०	३१	१	५	६१/६२
८	अपूर्वकरण भाग १	७	५८	५	६	१	९	०	३१	१	५	६२
	,, ,, २	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	,, ,, ३	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४

६. अनन्त के चौथे भेद की संख्या का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त संख्या में से एक कम करने पर अनन्त का छठा भेद उत्कृष्ट युक्तानन्त कहलाता है।

७. अनन्त के छठे भेद की संख्या में एक मिलाने से अनन्त का सातवाँ भेद जघन्यानन्तानन्त कहलाता है।

८. जघन्यानन्तानन्त के आगे की सब संख्या अनन्त का आठवाँ भेद मध्यमानन्तानन्त कहलाती है।

यह आठ भेद आगमानुसार हैं। किन्हीं आचार्यों ने उत्कृष्टानन्तानन्त[1] यह नौवाँ भेद माना है किन्तु वह आगम समर्थित न होने से विचारणीय है।

पुद्गल परावर्तन : लक्षण व भेद

यह पहले संकेत किया गया है कि पुद्गल परावर्तन रूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है। अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ विशेष वर्णन करते हैं।

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से भरा हुआ है। ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य भी हैं और अयोग्य (अग्रहणयोग्य) भी हैं। अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तो अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नहीं की जाती हैं, लेकिन ग्रहणयोग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण

---

१. अनन्त के सातवें भेद की संख्याओं को तीन बार गुणा करे फिर उसमें निम्नलिखित छह अनन्त वस्तुओं को मिलाये—

१. सिद्ध, २. निगोद जीव, ३. प्रत्येक साधारण वनस्पति, ४. भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालों के समय, ५. सब पुद्गल परमाणु, ६. अलोकाकाश। इन छहों के मिलाने के बाद जो राशि प्राप्त हो, उसे तीन बार गुणा करके यदि केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्यायें मिला दी जायें तो उसे उत्कृष्टानन्तानन्त कहेंगे।

रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहणयोग्य वर्गणाएँ आठ प्रकार की हैं—

१. औदारिक शरीर वर्गणा,
२. वैक्रिय शरीर वर्गणा,
३. आहारक शरीर वर्गणा,
४. तैजस् शरीर वर्गणा,
५. भाषा वर्गणा,
६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा,
७. मनोवर्गणा,
८. कार्मण वर्गणा।[1]

ये वर्गणाएँ क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

उक्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं में से आहारकशरीर वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिकादि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गल परावर्तन कहलाता है।

एक पुद्गल परावर्तन व्यतीत होने में अनन्त काल चक्र लग जाते हैं। अद्धापल्योपम की अपेक्षा से २० कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

पुद्गल परावर्तन के मुख्य चार भेद हैं—

१. द्रव्य पुद्गल परावर्तन, २. क्षेत्र पुद्गल परावर्तन, ३. काल पुद्गल परावर्तन ४. भाव पुद्गल परावर्तन।[2] और इन चारों के

---

१. क—समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं।
ख—पंचसंग्रह गा०, १५ (बन्धन कारण), आवश्यक निर्युक्ति गा०, ३६।

२. दिगम्बराचार्यों ने इन चार पुद्गल परावर्तनों के अतिरिक्त पाँचवाँ भेद भव पुद्गल परावर्तन माना है। संसारी जीव का नरक की छोटी से छोटी आयु लेकर ग्रैवेयक विमान तक की आयु को समय क्रम से प्राप्त कर भ्रमण करना भव परावर्तन है।

२ उदय यंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अनुदय
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५	४६
८	अपूर्वकरण	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५	५०
९	अनिवृत्तिकरण	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५	५६
१०	सूक्ष्मसंपराय	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५	६२
११	उपशांतमोह	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५	६३
१२	क्षीणमोह	७	५७।५५	५	६।४	२	०	१	३७	१	५	६५।६७
१३	सयोगीकेवली	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०	८०
१४	अयोगीकेवली	४	१२	०	०	२	०	१	९	१	०	११०

भी वादर और सूक्ष्म यह दो-दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार से पुद्‌गल परावर्तन के निम्नलिखित आठ भेद हैं—

१. वादर द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन, २. सूक्ष्म द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन,
३. वादर क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन, ४. सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन,
५. वादर काल पुद्‌गल परावर्तन, ६. सूक्ष्म काल पुद्‌गल परावर्तन,
७. वादर भाव पुद्‌गल परावर्तन, ८. सूक्ष्म भाव पुद्‌गल परावर्तन।

इन आठ भेदों की व्याख्या क्रमशः निम्नप्रकार है—

१. **वादर द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन**—जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को आहारक शरीर वर्गणा के सिवाय शेष औदारिक शरीर आदि सातों वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन कहते हैं। सारांश यह है कि विश्व के प्रत्येक परमाणु औदारिक आदि सातों वर्गणाओं में परिणमन करें यानी जब जीव सारे लोक में व्याप्त सभी परमाणुओं को औदारिकादि रूप से प्राप्त कर ले तव एक बादर द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन होता है।

२. **सूक्ष्म द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन**—जितने काल में समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस समय जीव सर्व लोकवर्ती अणुओं को औदारिक रूप में परिणमाता है, अगर उस समय के बीच में वैक्रिय पुद्‌गलों को ग्रहण कर ले तो उस समय को गिनती में नहीं लेना। किन्तु औदारिक रूप में परिणत अणुओं का ही ग्रहण करना। इसी प्रकार वैक्रिय शरीर वर्गणा आदि अन्य वर्गणाओं के लिए भी समझना चाहिए। ग्रहण योग्य वर्गणायें सात हैं। अतः उन

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अनुदीरणा
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	×
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	१	५	४९
८	अपूर्वकरण	६	६९	४	६	०	१३	०	३९	१	५	५३
९	अनिवृत्तिकरण	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५	५९
१०	सूक्ष्मसंपराय	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५	६५
११	उपशांतमोह	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५	६६
१२	क्षीणमोह	५	५४।५२	५	६।४	०	०	०	३७	१	५	६८।७०
१३	सयोगीकेवली	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०	८३
१४	अयोगीकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२२

उन वर्गणाओं के नाम से सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन के भी सात भेद हो जाते हैं।

३. बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन—एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या बिना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं। जिस प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त कर चुका है अगर उसी प्रदेश में फिर मृत्यु प्राप्त करे तो वह इसमें नहीं गिना जायेगा। केवल वे ही प्रदेश गिने जायेंगे, जिनमें पहले मृत्यु प्राप्त नहीं की है। यद्यपि जीव असंख्यात प्रदेशों में रहता है फिर भी किसी प्रदेश को मुख्य रखकर गिनती की जा सकती है।

४. सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन—कोई जीव संसार में भ्रमण करते हुए आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है। पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तब उसे सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं। बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन में इतना अन्तर है कि बादर में तो क्षेत्र के प्रदेशों के क्रम का विचार नहीं किया जाता है और सूक्ष्म में क्षेत्र प्रदेश के क्रम का विचार होता है। अर्थात् सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण को ग्रहण करना चाहिए। अक्रम से जिन प्रदेशों में मरण होता है उनकी गणना नहीं की जाती है।

५. बादर काल पुद्गल परावर्तन—बीस कोटा-कोटी सागर एक कालचक्र के प्रत्येक समय को क्रम से या अक्रम से ज मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है तो उसे बादर काल पुद्गल

२ उदय यंत्र

म	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अनुदय
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५	४६
८	अपूर्वकरण	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५	५०
९	अनिवृत्तिकरण	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५	५६
१०	सूक्ष्मसंपराय	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५	६२
११	उपशांतमोह	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५	६३
१२	क्षीणमोह	७	५७।५५	५	६।४	२	०	१	३७	१	५	६५।६७
१३	सयोगीकेवली	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०	८०
१४	अयोगीकेवली	४	१२	०	०	२	०	१	९	१	०	११०

३ उदीरणायंत्र

३ उदीरणायंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अनुदीरणा
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	×
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	१	५	४९
८	अपूर्वकरण	६	६९	४	६	०	१३	०	३९	१	५	५३
९	अनिवृत्तिकरण	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५	५९
१०	सूक्ष्मसंपराय	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५	६५
११	उपशांतमोह	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५	६६
१२	क्षीणमोह	५	५४।५२	५	६।४	०	०	०	३७	१	५	६८।७०
१३	सयोगीकेवली	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०	८३
१४	अयोगीकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२२

१	२	३	४	५	६	७
१३६	८८	अस्थिर	६	१३	१३	१४
१३७	८९	अशुभ	६	१३	१३	१४
१३८	९०	दौभार्ग्य	२	४	४	१४
१३९	९१	दुःस्वर	२	१३	१३	१४
१४०	९२	अनादेय	२	४	४	१४
१४१	९३	अयशःकीर्ति	६	४	४	१४
		गोत्रकर्म २				
१४२	१	उच्च गोत्र	१०	१४	१३	१४
१४३	२	नीचगोत्र	२	५	५	१४
		अन्तराय-५				
१४४	१	दानान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४५	२	लाभान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४६	३	भोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४७	४	उपभोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४८	५	वीर्यान्तराय	१०	११	१२	१२

नोट—(१) इस यंत्र में उपशम और क्षयक इस प्रकार दो श्रेणियों की विवक्षा की गई है।

(२) नाम कर्म की जिन प्रकृतियों की सत्ता चौदह गुणस्थान तक कही है, उनमें से मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर पर्याप्त, सुभग आदेय, यशः कीर्ति तीर्थंकर नाम कर्म के सिवाय ७१ प्रकृतियों की सत्ता चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक होती है।

४ सत्ता यंत्र

१४ गुणस्थान में सत्ता		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	उपशमश्रेणी	क्षपकश्रेणी	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
सामान्य		८	१४८			५	९	२	२८	४	९३	२	५
१ मिथ्यात्व		८	१४८			५	९	२	२८	४	९३	२	५
२ सासादन		८	१४७			५	९	२	२८	४	९२	२	५
३ मिश्र		८	१४७			५	९	२	२८	४	९२	२	५
४ अविरत		८	१४८	‡१४८।१४१	१४५।१३८	५	९	२	२८।२४।२१	४।१	९३	२	५
५ देशविरत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
६ प्रमत्तसंयत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
७ अप्रमत्तसंयत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
८ अपूर्वकरण		८	१४८।१४२	*१४२।१३९	१३८	५	९	२	,,	२।१	९३	२	५
९ अनिवृत्तिकरण	१	८	,,	,,	१३८	५	९।६	२	२१‡	,,	९३।८०	२	५
के	२			०	१२२	५	९।६	२	२१	,,	९३।८०	२	५
९ भाग	३			०	११४	५	,,	२	१३	,,	,,	२	५
होते हैं	४			०	११३	५	,,	२	१२	,,	,,	२	५

क्रम	यद् अविनाभावी प्रकृतियों के निमित्त	कुल प्रकृतियां	गुण १	२	३
१	केवलज्ञान	१	०	०	०
२	मिश्र गुणस्थान	१	०	०	१
३	क्षयोपशम सम्यक्त्व	१	०	०	०
४	प्रमत्तसंयत	२	०	०	०
५	मिथ्यात्व	५	५	०	०
६	जन्मान्तर	४	४	३	०
७	अनन्तानुबन्धीय	६	६	६	०
८	अप्रत्याख्यानीय	१३	१३	१३	१३
९	प्रत्याख्यानीय	८	८	८	८
१०	प्रमादभाव संक्लेश	३	३	३	३
११	यथाप्रवृत्ति-पूर्वकरण	३	३	३	३
१२	तथाविध संक्लिष्ट परिणाम	६	६	६	६
१३	बादरकषाय	६	६	६	६
१४	अयथाख्यात चारित्र	१	१	१	१
१५	अक्षपक भाव	२	२	२	२
१६	छाद्मस्थिकभाव	१६	१६	१६	१६
१७	बादरकायवाग् योग	२९	२९	२९	२९
१८	संसारी जीवन	२	२	२	२
१९	मानव मन	२	२	२	२
२०	सिद्धत्वस्पर्शी पुण्य	८	८	८	८
	कुल निमित्त	२०	१६	१५	१४
	कुल प्रकृतियां	१२२	११७	१११	१००
	कितनी प्रकृतियां नहीं होती हैं	०	५	११	२२

१४ गुणस्थान में सत्ता	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृ	उपशमश्रे	क्षपकश्रे	ज्ञानावरण	दर्शनावर	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
५			०	११२	५	६।६	२	११	२।१	९३।८०	२	५
६			०	१०६	५	,,	२	५	,,	,,	२	५
७			०	१०५	५	,,	२	४	,,	,,	२	५
८			०	१०४	५	,,	२	३	,,	,,	२	५
९			०	१०३	५	,,	२	२	,,	,,	२	५
१० सूक्ष्मसंपराय	८	१४८।१४२	१४२।१३९	१०२	५	,,	२	२८।२४।२१।१	२।१	९३।८०	२	५
११ उपशांतमोह	८	१४८।१४२	१४२।१३९	१०१	५	,,	२	२८।२४।२१	२।१	९३	२	५
१२ क्षीणमोह	७	१०१।९९	०	१०१।९९	५	६।४	२	०	१	८०	२	५
१३ सयोगीकेवली	४	८५	०	८५	०	०	२	०	१	८०	२	०
१४ अयोगीकेवली	४	८५।१३।१२	०	८५।१३।१२	०	०	२।१	०	१	८०।९	२।१	०

। तद्भव मोक्षगामी अनन्तानुबंधी विसंयोजक उपशमश्रेणि को करने वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को १४१ की सत्ता मानी जाती है

* तद्भव मोक्ष नहीं जाने वाले उपशमश्रेणि वाले क्षायक सम्यग्दृष्टि की मानी जाती है

† नौवें गुणस्थान में नौ भागों में मोहनीय के २८–२४–२१ अंक सहित समझना चाहिये ।

प्रकृतियों का विवरण

४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	कुल गुण-स्थान
०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
०	०	२	०	०	०	०	०	०	०	०	१
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
४	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
[illegible]	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
८	८	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
[illegible]	३	३	०	०	०	०	०	०	०	०	६
[illegible]	३	३	३	०	०	०	०	०	०	०	७
[illegible]	६	६	६	६	०	०	०	०	०	०	८
[illegible]	६	६	६	६	६	०	०	०	०	०	९
[illegible]	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	१०
[illegible]	२	२	२	२	२	२	२	०	०	०	११
[illegible]	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	०	०	१२
[illegible]	२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	०	१३
[illegible]	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	१४
[illegible]	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	१४
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	१४
[illegible]	१३	१३	११	९	८	७	६	५	५	४	०
[illegible]	८७	८१	७३	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२	०
[illegible]	३५	४१	४३	५०	५६	६२	६३	६५	८०	१	[illegible]

गुणस्थान-बंधादि विषयक यंत्र

आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता किस-किस गुणस्थान तक होती है

क्रम	उत्तर प्रकृतियों की संख्या का क्रम	मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम	किस गुणस्थान तक बंध	किस गुणस्थान तक उदय	किस गुणस्थान तक उदीरणा	किस गुणस्थान तक सत्ता
१	२	३	४	५	६	७
		ज्ञानावरण ५				
१	१	मति ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
२	२	श्रुत ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
३	३	अवधि ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
४	४	मनःपर्याय ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
५	५	केवल ज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
		दर्शनावरण ६				
६	१	चक्षुदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
७	२	अचक्षुदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
८	३	अवधि दर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
९	४	केवल दर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
१०	५	निद्रा	१०	एक समय न्यून-१२	आवलिका समयाधिक न्यून-१२	एक समय न्यून-१२

कर्म प्रकृतियों का बंध निमित्तक विवरण

क्रम	गुणस्थान	योगनिमित्तक	सूक्ष्म संपराय निमित्तक	अनिवृत्तिबादर कषाय निमित्तक	अपूर्वकरण निवृत्ति सहकृत-बादर कषाय निमित्तक	अप्रमत्तभाव नि०	प्रमत्तभाव नि०	प्रत्याख्यानीय कषाय निमित्तक	अप्रत्याख्यानीय कषाय निमित्तक	सम्यक्त्व सहकृत संक्लेश-निमित्तक	अनन्तानुबंधीय निमित्तक	मिथ्यात्व निमित्तक	कुल प्रकृतियां
१	मिथ्यात्व	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	०	२५	१६	११७
२	सास्वादन	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	०	२५	०	१०१
३	मिश्र	१	१६	५	३३	०	७	४	९	०	०	०	७४
४	अविरति	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	१	०	०	७७
५	देशविरति	१	१६	५	३३	०	७	४	०	१	०	०	६७
६	प्रमत्त संयत	१	१६	५	३३	०	७	०	०	१	०	०	६३
७	अप्रमत्त संयत	१	१६	५	३३	२	०	०	०	१	०	०	५८
८	अपूर्वकरण	१	१६	५	३३	२	०	०	०	१	०	०	५८
९	अनिवृत्तिबादर	१	१६	५	०	०	०	०	०	०	०	०	२२
१०	सूक्ष्मसंपराय	१	१६	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१७
११	उपशांत मोह	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१२	क्षीणमोह	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१३	सयोगि				०	०	०	०	०	०	०	०	१

२	३	४	५	६	७
६	निद्रा-निद्रा	२	६	६	८ १/९
७	प्रचला	८/१	१२. स. समय न्यून दिन	१२.समयाधिक आवलिका न्यून	१२. समय न्यून
८	प्रचला-प्रचला	२	६	६	९/४
९	स्त्यानर्द्धि	२	६	६	९/५
	वेदनीय—२				
१	सातावेदनीय	१३	१४	६	१४
२	असातावेदनीय	६	१४	६	१४
	मोहनीय—२८				
१	सम्यकत्व मोहनीय	वंध नहीं होता है	४ से ७ तीसरे गु.	४ से ७ तीसरे गु.	११–७
२	मिश्र मोहनीय				११–७
३	मिथ्यात्व मोहनीय	१	१	१	११–७
४	अनन्तानुवंधी क्रोध	२	२	२	११–७
५	अनन्तानुवंधी मान	२	२	२	११–७
६	अनन्तानुवंधी माया	२	२	२	११–७
७	अनन्तानुवंधी लोभ	२	२	२	११–७
८	अप्रत्या० क्रोध	४	४	४	११–९
९	,, मान	४	४	४	,,
१०	,, माया	४	४	४	,,
११	,, लोभ	४	४	४	—
१२	प्रत्या० क्रोध	५	५	५	

१	२	३	४	५	६	७
२९	१३	प्रत्या० मान	५	५	५	११-९/२
३०	१४	,, माया	५	५	५	,,
३१	१५	,, लोभ	५	५	५	,,
३२	१६	संज्वलन क्रोध	९/२	९	९	११-९/७
३३	१७	,, मान	९/३	९	९	११-९/८
३४	१८	,, माया	९/४	९	९	११-९/९
३५	१९	,, लोभ	९	१०	१०	११-१०
३६	२०	हास्य नोकषाय	८/७	८	८	११-९/४
३७	२१	रति ,,	८/७	८	८	११-९/४
३८	२२	अरति ,,	६	८	८	११-[illegible]
३९	२३	शोक ,,	६	८	८	११-[illegible]
४०	२४	भय ,,	८/७	८	८	११-[illegible]
४१	२५	जुगुप्सा ,,	८/७	८	८	११-[illegible]
४२	२६	पुरुषवेद ,,	९/१	९	९	११-[illegible]
४३	२७	स्त्रीवेद ,,	२	९	९	११-[illegible]
४४	२८	नपुंसकवेद	१	९	९	११-[illegible]
		आयु कर्म—४				
४५	१	देवायु	१ से ७*	४	४	११-[illegible]
४६	२	मनुष्यायु	४	१४	६	१४
४७	३	तिर्यंचायु	२	५	५	७
४८	४	नरकायु	१	४	४	७

* तीसरे गुणस्थान में किसी आयु का वन्ध होता नहीं है, इसलिए तीसरे गुण स्थान के सिवाय।

१	२	३	४	५	६	७
		नाम कर्म ९३—१०३				
४९	१	मनुष्यगति	४	१४	१३	२४
५०	२	तिर्यंचगति	२	५	५	११ ६/७
५१	३	देवगति	८/६	४	४	२४
५२	४	नरकगति	१	४	४	११ ६/७
५३	५	एकेन्द्रियजाति*	१	२	२	११ ६/७
५४	६	द्वीन्द्रियजाति	१	२	२	११ ६/७
५५	७	त्रीन्द्रियजाति	१	२	२	११ ६/७
५६	८	चतुरिन्द्रियजाति	१	२	२	११ ६/७
५७	९	पंचेन्द्रियजाति	८/६	१४	१३	२४
५८	१०	औदारिक शरीर	४	१३	१३	२४
५९	११	वैक्रिय शरीर	८/६	४	४	२४
६०	१२	आहारक शरीर	८/६	छठवां	छठवां	२४
६१	१३	तैजस शरीर	८/६	१३	१३	२४
६२	१४	कार्मण शरीर	८/६	१३	१३	२४
६३	१५	औदारिक अंगोपांग	४	१३	१३	२४
६४	१६	वैक्रिय ,,	८/६	४	४	२४
६५	१७	आहारक ,,	८/६	छठवां	छठवां	२४
६६	१८	औदारिक बंधन	इन			२४
६७	१९	वैक्रिय ,,	सब			२४

* एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को मात्र पहला और दूसरा [illegible] ही गुणस्थान होते हैं।

अप्रमत्तविरत मूल ८/७ उ० ५९/५८

छठे गुणस्थान के अंत में—अरति, शोक, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, अयशः कीर्तिनाम, असातावेदनीय, इन छह प्रकृतियों का बंध विच्छेद हो जाने से शेष रही ५६। [जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारंभ कर उस बंध को वहीं समाप्त कर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके ५६ प्रकृतियां व जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंध कर सातवें में समाप्त करता है उसके ५६+१=५७ प्रकृतियों का बंध रहता है तथा सातवें गुणस्थान में आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बंध संभव होने से दो जोड़ने से ५६+२=५८

५७+२=५९

प्रकृतियों का बंध संभव है।

अपूर्वकरण मूल ७ उ० ५८; ५६; २६

प्रथम भाग में ५८ कर्म प्रकृतियों का बंध संभव है।

नोट—१. इस गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारंभ व समाप्ति नहीं होती।

२. प्रथम भाग के अंत में निद्रा, प्रचला का विच्छेद हो जाता है अतः ५८—२=५६

३. दूसरे भाग से छठे भाग तक यही ५६ का बंध संभव है। छठे भाग के अंत में सुरद्विक (देवगति देवगत्यानुपूर्वी) पंचेन्द्रिय जाति, शुभविहायोगति त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय) औदारिक शरीर को छोड़ शेष चार शरीर, औदारिक अंगोपांग को छोड़ शेष दो अंगोपांग, [illegible] संस्थान, निर्माण, तीर्थंकर,

१	२	३	४	५	६	७
६८	२०	आहारक ,,	का अंश स्व शरीर तुल्य है	स्व	स्व	१४
६९	२१	तैजस ,,		शरीर	शरीर	१४
७०	२२	कार्मण बंधन		तुल्य	तुल्य	१४
७१	२३	औदारिक संघातन नाम				१४
७२	२४	वैक्रिय ,,				१४
७३	२५	आहारक ,,		छठवां	छठवां	१४
७४	२६	तैजस् ,,				१४
७५	२७	कार्मण संघातन				१४
७६	२८	वज्रऋषभ नाराच सं.	४	१३	१३	१४
७७	२९	ऋषभ नाराच सं०	२	११	११	१४
७८	३०	नाराच संघनन	२	११	११	१४
७९	३१	अर्धनाराच संघयन	२	७	७	१४
८०	३२	कीलिका	२	७	७	१४
८१	३३	सेवार्त	१	७	७	१४
८२	३४	सम चतुरस्र संस्थान	८/६	१३	१३	१४
८३	३५	न्यग्रोध ,,	२	१३	१३	१४
८४	३६	सादि ,,	२	१३	१३	१४
८५	३७	वामन ,,	२	१३	१३	१४
८६	३८	कुब्ज ,,	२	१३	१३	१४
८७	३९	हुण्डक ,,	१	१३	१३	१४
८८	४०	कृष्ण वर्ण नाम	८/६	१३	१३	१४
८९	४१	नील ,,	,,	१३	१३	१४

अनन्तानुवंधी चतुष्क (अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) मध्यम संस्थान चतुष्क (न्यग्रोधपरिमंडल, वामन, सादि, कुब्ज) मध्यम संहनन चतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका) नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद= २५ का वंध दूसरे गुणस्थान में अंत होने व मि गुणस्थान में किसी आयु का वंध संभव न होने शेष दो आयु (मनुष्यायु, देवायु) को घटा देने २७ प्रकृतियां कम होती हैं।

४ **अविरत सम्यग्दृष्टि** मूल ८ उ० ७

मनुष्यायु, देवायु व तीर्थंकर नाम का वंध होने से मि गुणस्थान की ७४ प्रकृतियों में यह तीन जोड़ें=७७

नोट—नरक व देव जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं वे तो मनुष्यायु का और तिर्यंच व मनुष्य देवायु का वंध करते हैं।

५ **देशविरति** मूल ८ उ० ६७

वज्र ऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यायु, मनुष्यानुपूर्वी) अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) औदारिक द्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) कुल १० प्रकृतियों का विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अंत समय में होने से शेष ६७ का वंध संभव है।

६ **प्रमत्तविरत** मूल ८ उ० ६३

प्रत्याख्यानावरण चतुष्क (प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ) का वंध विच्छेद पांचवें गुणस्थान के अंत समय में हो जाने से ६७—४=६३ प्रकृतियों का वंध संभव है।

१	२	३	४	५	६	७
९०	४२	लोहित संस्थान	,,	१३	१३	१४
९१	४३	हारिद्र ,,	,,	१३	१३	१४
९२	४४	श्वेत ,,	,,	१३	१३	१४
९३	४५	सुरभि गंध	,,	१३	१३	१४
९४	४६	दुरभि ,,	,,	१३	१३	१४
९५	४७	तिक्तरस रस	,,	१३	१३	१४
९६	४८	कटुक ,,	,,	१३	१३	१४
९७	४९	कषाय ,,	,,	१३	१३	१४
९८	५०	आम्ल ,,	,,	१३	१३	१४
९९	५१	मधुर रस	,,	१३	१३	१४
१००	५२	कर्कश स्पर्श	,,	१३	१३	१४
१०१	५३	मृदु ,,	,,	१३	१३	१४
१०२	५४	गुरु ,,	,,	१३	१३	१४
१०३	५५	लघु ,,	,,	१३	१३	१४
१०४	५६	शीत ,,	,,	१३	१३	१४
१०५	५७	उष्ण ,,	,,	१३	१३	१४
१०६	५८	स्निग्ध ,,	,,	१३	१३	१४
१०७	५९	रूक्ष ,,	,,	१३	१३	१४
१०८	६०	नरकानुपूर्वी	१	१-४	१-४	६/१
१०९	६१	तिर्यंचानुपूर्वी	२	१-२-४	१-२-४	६/१
११०	६२	मनुष्यानुपूर्वी	४	१-२-४	१-२-४	१४
१११	६३	देवानुपूर्वी	८/६	१-२-४	१-२-४	१४
११२	६४	शुभविहायोगति	८/६	१३	१३	

७ अप्रमत्तविरत मूल ८/७ उ० ५६/५८

छठे गुणस्थान के अंत में—अरति, शोक, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, अयशः कीर्तिनाम, असातावेदनीय, इन छह प्रकृतियों का बंध विच्छेद हो जाने से शेष रही ५६। [जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंध प्रारंभ कर उस बंध को वहीं समाप्त कर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके ५६ प्रकृतियां व जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंध कर सातवें में समाप्त करता है उसके ५६+१=५७ प्रकृतियों का बंध रहता है तथा सातवें गुणस्थान में आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बंध संभव होने से दो जोड़ने से ५६+२=५८
५७+२=५९
प्रकृतियों का बंध संभव है।

८ अपूर्वकरण मूल ७ उ० ५८; ५६; २६

प्रथम भाग में ५८ कर्म प्रकृतियों का बंध संभव है।
नोट—१. इस गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारंभ व समाप्ति नहीं होती।
२. प्रथम भाग के अंत में निद्रा, प्रचला का विच्छेद हो जाता है अतः ५८—२=५६
३. दूसरे भाग से छठे भाग तक यही ५६ का बंध संभव है। छठे भाग के अंत में सुरद्विक (देवगति देवगत्यानुपूर्वी) पंचेन्द्रिय जाति, शुभविहायोगति त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय) औदारिक शरीर के अतिरिक्त शेष चार शरीर, औदारिक अंगोपांग के अतिरिक्त दो अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, [illegible]

१	२	३	४	५	६	[illegible]
११३	६५	अशुभविहायोगति	२	१३	१३	१[illegible]
११४	६६	पराघातनामकर्म	८/६	१३	१३	१४
११५	६७	उछ्वास	८/६	१३	१३	१४
११६	६८	आतप	१	१	१	६/१
११७	६९	उद्योतनामकर्म	२	५	५	६/१
११८	७०	अगुरु लघु ,,	८/६	१३	१३	१४
११९	७१	तीर्थंकर ,,	८/६	१३-१४	१३	१४
१२०	७२	निर्माण ,,	८/६	१३	१३	१४
१२१	७३	उपघात ,,	,,	१३	१३	१४
१२२	७४	त्रस नाम ,,	,,	१४	१३	१४
१२३	७५	बादर ,,	,,	१४	१३	१४
१२४	७६	पर्याप्त ,,	,,	१४	१३	१४
१२५	७७	प्रत्येक ,,	,,	१३	१३	१४
१२६	७८	स्थिर ,,	,,	१३	१३	१४
१२७	७९	शुभ ,,	,,	१३	१३	१४
१२८	८०	सौभाग्य ,,	,,	१३	१३	१४
१२९	८१	सुस्वर ,,	,,	१३	१३	१४
१३०	८२	आदेय नाम कर्म	,,	१४	१३	१४
१३१	८३	यश:कीर्ति ,,	१०	१४	१३	१४
१३२	८४	स्थावर नामकर्म	१	२	२	६/१
१३३	८५	सूक्ष्म	१	१	१	६/१
१३४	८६	अपर्याप्त	१	१	१	१४
१३५	८७	साधारण	१	१	१	६/१

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु चतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्‌वास) इन ३० प्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है। सातवें भाग में ये नहीं रहती = २६

४—आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अंत में हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन ४ प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से २६—४ = २२ प्रकृतियों का बंध नौवें में संभव है।

९ अनिवृत्तिबादर मूल ७ उ० २२; २१; २०; १९; १८

इस गुणस्थान के प्रारंभ में २२ प्रकृतियों का बंध

१. पहले भाग के अंत में पुरुष वेद का विच्छेद = २१

२. दूसरे भाग के अंत में संज्वलन क्रोध का विच्छेद = २०

३. तीसरे भाग के अंत में संज्वलन मान का विच्छेद = १९

४. चौथे भाग में संज्वलन माया का विच्छेद = १८

५. पांचवें भाग के अंत समय में लोभ का बंध नहीं होता। अतः दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में शेष १७ प्रकृतियां रहेंगी।

१० सूक्ष्मसंपराय मूल ६ उ० १७

दसवें गुणस्थान के अंत समय में—

दर्शनावरणीय ४

उच्चगोत्र १

ज्ञानावरणीय ५

अंतराय ५

यशःकीर्ति नाम १ = १६ प्रकृतियों का बंध-वि [illegible]

हो जाता है, शेष १ [illegible] है।

११ उपशांत मोहनीय मूल १

सातावेदनीय का बंध

[स्थिति इसकी दो [illegible] ती है। निमित्त है।]

१२ क्षीणमोहनीय मूल १ उ० १
सातावेदनीय
[योगनिमित्त होने से स्थिति दो समय मात्र की।]

१३ सयोगि केवली मूल १ उ० १
बारहवें गुणस्थान की तरह

१४ अयोगि केवली मूल ० उ० ०
अबन्धक दशा

उदय-विवरण

ओघ मूल प्रकृति ८ उत्तर प्रकृति १२२
ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय, ९ वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५=१२२
(मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता किन्तु उदय होता है अतः मोहनीय की २८ प्रकृतियाँ गिनी गई हैं।)

१ मिथ्यात्व मूल ८ उ० ११७
मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम कर्म का उदय नहीं होने से ५ प्रकृतियां न्यून।

२ सासादन मूल ८ उ० १११
सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनाम, अपर्याप्त नामकर्म, साधारण नाम) आतप नाम, मिथ्यात्व मोहनीय, नरकानुपूर्वी=६ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

३ मिश्र मूल ८ उ० १००
अनन्तानुबंधी चतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय)

		(घ) चरम शरीरी की अपेक्षा से (क्षायिकसम्यक्त्वी) अनन्ता० ४, दर्शनत्रिक ३ आयु ३ के कम करने पर १३८ प्र० की।
५	देशविरत	मूल ८ उ० चौथे गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८ क वत् १४५ ख वत् १४१ ग वत् १४१ घ वत् १३८
६	प्रमत्तविरत	मूल ८ उ० चौथे गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८ क वत् १४५ ख वत् १४१ ग वत् १४१ घ वत् १३८
७	अप्रमत्त विरत	मूल ८ उ० चौथे गुणस्थान के सदृश संभव सत्ता की अपेक्षा १४८ क वत् १४५ ख वत् १४१ ग वत् १४१ घ वत् १३८
८	अपूर्वकरण	मूल ८ उ० १४८, १४२, १३९, १३८ संभवसत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८। अनन्तानुबंधी ४ नरकायु, तिर्यंचायु [illegible] उपशम श्रेणी [illegible] अपेक्षा १४२। [illegible] दर्शनत्रिक (क्षायिक[illegible]) [illegible] प्रकृतियों की [illegible]

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु चतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास) इन ३० प्रकृतियों का वंध विच्छेद होता है। सातवें भाग में ये नहीं रहती = २६

४—आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अंत में हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन ४ प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से २६—४=२२ प्रकृतियों का वंध नौवें में संभव है।

९ अनिवृत्तिबादर मूल ७ उ० २२; २१; २०; १९; १८

इस गुणस्थान के प्रारंभ में २२ प्रकृतियों का वंध

१. पहले भाग के अंत में पुरुष वेद का विच्छेद = २१

२. दूसरे भाग के अंत में संज्वलन क्रोध का विच्छेद = २०

३. तीसरे भाग के अंत में संज्वलन मान का विच्छेद = १९

४. चौथे भाग में संज्वलन माया का विच्छेद = १८

५. पांचवे भाग के अंत समय में लोभ का वंध नहीं होता। अतः दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में शेष १७ प्रकृतियां रहेंगी।

१० सूक्ष्मसंपराय मूल ६ उ० १७

दसवें गुणस्थान के अंत समय में—

दर्शनावरणीय ४

उच्चगोत्र १

ज्ञानावरणीय ५

अंतराय ५

यशःकीर्ति नाम १ = १६ प्रकृतियों का वंध-विच्छेद हो जाता है, शेष १ प्रकृति रहती है।

११ उपशांत मोहनीय मूल १ उ० १

सातावेदनीय का वंध होता है।

[स्थिति इसकी दो समय मात्र की होती है। योग निमित्त है।]

		को अवश्य ही प्राप्त करता है, परन्तु तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता तो उस गुणस्थान में है, अतः इस गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता है। (योग्यता की अपेक्षा से)
२	सासादन	मूल ८ उ० १४७ कोई भी जीव तीर्थंकर नाम कर्म बांधकर सास्वादन गुणस्थान प्राप्त नहीं करता है अतः दूसरे गुणस्थान में इसे जिन नामकर्म की सत्ता नहीं होती है।
३	मिश्र	मूल ८ उ० १४७ दूसरे गुणस्थान के समान
४	अविरत सम्यग्दृष्टि	मूल ८ उ० १४८, १४५, १४१, १४१, १३८ संभव सत्ता की अपेक्षा से यद्यपि किसी एक समय में किसी एक जीव को दो आयु से अधिक की सत्ता नही होती, परन्तु योग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म विद्यमान नहीं हैं, उनका भी बंध व सत्ता हो सकती है अतः योग्यता की अपेक्षा से १४८ (औपशमिक सम्यक्त्वी, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी अचरम शरीरी की अपेक्षा से) (क) चरम शरीर (क्षपक) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के तीन आयु की सत्ता न रहने से १४५ प्र० (ख) क्षायिक सम्यक्त्वी, अचरम शरीरी के अनन्ता० चतुष्क व दर्शनत्रिक की सत्ता नहीं रहती अतः १४८—७=१४१ प्र० (ग) उपशम श्रेणी (विसंयोजना—जो कर्म प्रकृतियां वर्तमान में तो किसी दूसरी प्रकृतियों में संक्रमित करदी गई हों, वर्तमान में तो उनकी सत्ता नहीं है, परन्तु फिर से उनकी सत्ता संभव हो) की अपेक्षा से १४८। अनन्तानु-बंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक के न्यून होने पर १४१

[यद्यपि आहारक शरीर बनाते समय लब्धि का उपयोग करने से छठा गुणस्थान प्रमादवर्ती (उत्सुकता से) होता है, परन्तु फिर उस तद् शरीरी जीव के अध्यवसाय की विशुद्धि से सातवें गुणस्थान में तद् शरीर के होने पर भी प्रमादी नहीं कहा जाता ।]

८ अपूर्वकरण — मूल ८ — उ० ७२

सम्यक्त्व मोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त-संहनन इन चार प्रकृतियों का उदय विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से इस गुण-स्थान में इन चार का उदय सम्भव नहीं अतः ७६—४=७२ प्रकृतियों का उदय सम्भव है ।

९ अनिवृत्तिबादर — मूल ८ — उ० ६६

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा=६ प्रकृ-तियों का उदय संभव नहीं है । क्योंकि इनका उदय-विच्छेद आठवें गुणस्थान के अंत समय में हो जाता है ।

१० सूक्ष्मसंपराय — मूल ८ — उ० ६०

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया=६ प्रकृतियों का उदय संभव नहीं ।

[इनका उदय तो नौवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही होता है]

नोट—यदि श्रेणि का प्रारंभक पुरुष है तो पहले पुरुषवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर नपुंसक वेद के उदय को रोकेगा तदनन्तर संज्वलन क्रोध को । यदि स्त्री है तो पहले स्त्रीवेद को, फिर पुरुषवेद, फिर नपुंसकवेद के उदय को रोकेगा । यदि नपुंसक है तो पहले नपुंसकवेद को, फिर स्त्रीवेद को, फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा ।

भाग ५ में—चौथे भाग के अंत में स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से। ११३—१=११२

भाग ६ में—पांचवें भाग के अंत में हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा का क्षय होने से। ११२—६=१०६

भाग ७ में—छठे भाग के अंतसमय में पुरुष वेद का क्षय होने से १०६—१=१०५

भाग ८ में—सातवें भाग के अंत में संज्वलन क्रोध का क्षय होने से। १०५—१=१०४

भाग ९ में—आठवें भाग के अंत में संज्वलन मान का क्षय होने से १०४—१=१०३। नौंवे भाग के अंत में संज्वलन माया का क्षय होने से १०२ प्रकृतियां जो १०वें की सत्ता है।

सूक्ष्मसंपराय मूल ८ उ० १४८, अंतिम १०२

संभव सत्ता की अपेक्षा से १४८
उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधी चतुष्क व नरक तिर्यंचायु को कम करने से (विसंयोजना से)। १४८—६=१४२ उपशम श्रेणी में (नौवें गुणस्थानवत) १३९।

क्षपकश्रेणी में

१०२; दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का क्षय होने से शेष रही १०१ प्रकृतियां जो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हैं।

उपशान्तमोह मूल ८ उ० १४८, १४२, १३८

संभवसत्ता की अपेक्षा १४८

तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी=१२ प्रकृतियों का तो उदय नहीं होता किन्तु मिश्र-मोहनीय का उदय होता है अतः (१११—१२+१) =१०० का उदय सम्भव है।

४	अविरत सम्यग्दृष्टि	मूल ८	उ० १०४
		सम्यक्त्व मोहनीय व आनुपूर्वी चतुष्क (देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी तिर्यंचानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी) का उदय सम्भव है। मिश्र मोहनीय का उदय नहीं होता अतः १००+५—१=१०४	
५	देशविरत	मूल ८	उ० ८७
		अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक (देवगति, देवायु देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग) दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम अनादेय-नाम, अयशःकीर्तिनाम)=१७ का उदय सम्भव नहीं होता। १०४—१७=८७ का उदय सम्भव है।	
६	प्रमत्तविरत	मूल ८	उ० ८१
		तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नीच गोत्र, उद्योतनाम, प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क=८ का उदय तो सम्भव नहीं किन्तु आहारकद्विक का सम्भव होने से ८७—८+२=८१ प्रकृतियां उदय योग्य हैं।	
७	अप्रमत्तविरत	मूल ८	उ० ७६
		३—स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) व आहारकद्विक अप्रमत्त अवस्था में उदय सम्भव नहीं अतः ८१—५=७६ का उदय सम्भव है।	

(पंच संग्रह में कहा है कि अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना बिना जीव उपशम श्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकता। सर्वमत है कि नरक व तिर्यंच आयुकर्म की सत्ता वाला उपशम श्रेणी ही नहीं चढ़ सकता।)
ध वत् १३८

९ अनिवृत्तिकरण

मूल ८ उ० १४८ अंतिम १०३
संभव सत्ता की अपेक्षा १४८
उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधी चतुष्क और नरक तिर्यंचायु की सत्ता न रहने पर १४८—६=१४२।
उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक की विसंयोजना व नरक तिर्यंचायु का अभाव होने से १४८—७—२=१३९।

क्षपक श्रेणी में

भाग १ में—अनन्तानुबंधी ४ दर्शनत्रिक आयु तीन की सत्ता न रहने से। १४८—१०=१३८

भाग २ में—स्थावर द्विक, तिर्यंचद्विक नरकद्विक, आतप, उद्योत स्त्यानर्द्धित्रिक एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण नामकर्म की सत्ता नहीं रहती १३८—१६=१२२

भाग ३ में—दूसरे भाग के अंत में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरण चतुष्क की सत्ता क्षय हो जाती है। १२२—८=११४

भाग ४ में—तीसरे भाग के अंत में नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से। ११४—१=११३

वज्र ऋषभनाराच संहनन दुस्वर, सुस्वर, साता या असातावेदनीय में से कोई एक, यह ३० प्रकृतियां १३वें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही उदय को पा सकती हैं। अतः इनको घटाने पर शेष ४२—३०=१२ प्रकृतियां १४वें गुणस्थान में रहती हैं। शेष जो १२ प्रकृतियां हैं, उनका उदय १४वें गुणस्थान के अंतिम समय तक रहता है वे यह हैं—

सुभगनाम, आदेयनाम, यशःकीर्ति नाम, साता असाता में से कोई एक वेदनीय कर्म, त्रसत्रिक (त्रसनाम कर्म, बादर नाम कर्म, पर्याप्तनाम कर्म) पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति तीर्थंकर नाम उच्चगोत्र=१२

उदीरणा-विवरण

ओघ — मूल प्रकृति ८ — उत्तर प्रकृति १२२

उदययोग्य के अनुसार

मिथ्यात्व — मूल ८ — उ० ११७

मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, आहारक द्विक व तीर्थंकर नाम कर्म की उदीरणा संभव नहीं होने से ५ प्रकृतियां न्यून।

सासादन — मूल ८ — उ० १११

उदय के समान समझना

मिश्र — मूल ८ — उ० १००

उपर्युक्त १२ प्रकृतियों की उदीरणा तो संभव नहीं, व मिश्र मोहनीय की उदीरणा संभव है।

अविरतसम्यग्दृष्टि — मूल ८ — उ० १०४

मिश्र मोहनीय की उदीरणा संभव नहीं। सम्यक्त्व [illegible] व चार आनुपूर्वी की उदीरणा संभव है।

भाग ५ में—चौथे भाग के अंत में स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से। ११३—१=११२

भाग ६ में—पांचवें भाग के अंत में हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा का क्षय होने से। ११२—६=१०६

भाग ७ में—छठे भाग के अंतसमय में पुरुष वेद का क्षय होने से १०६—१=१०५

भाग ८ में—सातवें भाग के अंत में संज्वलन क्रोध का क्षय होने से। १०५—१=१०४

भाग ९ में—आठवें भाग के अंत में संज्वलन मान का क्षय होने से १०४—१=१०३। नौवें भाग के अंत में संज्वलन माया का क्षय होने से १०२ प्रकृतियां जो १०वें की सत्ता है।

१० सूक्ष्मसंपराय — मूल ८ — उ० १४८, अंतिम १०२

संभव सत्ता की अपेक्षा से १४८

उपशम श्रेणी में अनन्तानुबंधी चतुष्क व नरक तिर्यंचायु को कम करने से (विसंयोजना से)। १४८—६=१४२ उपशम श्रेणी में (नौवें गुणस्थानवत्) १३९।

क्षपकश्रेणी में

१०२; दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का क्षय होने से शेष रही १०१ प्रकृतियां जो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हैं।

११ उपशान्तमोह — मूल ८ — उ० १४८, १४२, १३९

संभवसत्ता की अपेक्षा १४८

११	उपशांतमोह	मूल ७	उ० ५६
		संज्वलन लोभ का उदय नहीं रहता है। [उसका उदय तो दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में विच्छेद हो जाता है। जिनको ऋषभनाराच व नाराच संहनन होता है वे ही उपशम श्रेणि करते हैं।]	
१२	क्षीणमोह	मूल ७	उ० ५७
		ऋषभनाराच व नाराचसंहनन का उदय संभव नहीं। इनका उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षपकश्रेणी, वज्र ऋषभनाराच संहनन के बिना नहीं होती अतः ५९—२=५७ बारहवें गुणस्थान के अंत समय में निद्रा प्रचला का भी उदय नहीं रहता अतः ५७—२=५५	
१३	सयोगिकेवली	मूल ४	उ० ४२
		ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४ अंतराय ५=१४ का उदय बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक ही रहता है अतः ५५—१४=४१ तथा तीर्थंकर नाम कर्म का उदय संभव है अतः ४१+१=४२ प्रकृतियों का उदय संभव है।	
१४	अयोगिकेवली	मूल ४	उ० १२
		औदारिकद्विक (औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग) अस्थिरद्विक (अस्थिरनाम, अशुभनाम) खगति द्विक (शुभ विहायोगति, अशुभविहायोगति) प्रत्येकत्रिक (प्रत्येक नाम, शुभनाम स्थिरनाम) संस्थानषटक (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन कुब्ज, हुंड) अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नाम) वर्ण चतुष्क (वर्ण, गंध, रस, स्पर्श) निर्माण नाम, तैजस शरीर कार्मण शरीर,	

उपशम श्रेणी, अनन्तानुबंधी चतुष्क व नरकायु तिर्यंचायु घटाने से । १४८—६=१४२
उपशम श्रेणी में १३८
(इस गुणस्थान में क्षपक श्रेणी नहीं होती है ।)

१२ क्षीणमोह — मूल ७ — उ० १०१

द्विचरम समय में निद्रा व प्रचला का क्षय होने से । १०१—२=९९
अंतिम समय में ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अंतराय ५ का क्षय होने से ९९—१४=८५ जो तेरहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियां हैं ।
(इस गुणस्थान में उपशम श्रेणी नहीं होती ।)

१३ सयोगि केवली — मूल ४ — उ० ८५

८५ प्रकृतियां चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय होने वाली ७२ प्रकृतियाँ एवं अंत समय में क्षय होने वाली १२ प्रकृतियां तथा सातावेद० या असातावेदनीय में से कोई एक ।

१४ अयोगि केवली — मूल ४ — उ० १२/१३

चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त जो ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है उसमें से द्विचरम समय में—
देवद्विक, खगतिद्विक, शरीरनाम ५, बंधननाम ५, संघातन ५, निर्माण, संहनन ६, अस्थिरषटक्, संस्थान ६, अगुरुलघु चतुष्क अपर्याप्तनाम, साता या असाता वेदनीय, प्रत्येकत्रिक, अंगोपांग ३, सुस्वरनाम, नीच गोत्र=७२ प्रकृतियों की सत्ता का अभाव हो जाता है । चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में—मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक यशःकीर्तिनाम, आदेयनाम, सुभग, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रियजाति, साता या असाता वेदनीय में से कोई एक १३ प्रकृतियों का अभाव हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाती है ।

५	देशविरत	मूल ८ उदयवत १७ प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।	उ० ८७
६	प्रमत्तविरत	मूल ८ उदयवत् संभव है।	उ० ८१
७	अप्रमत्तविरत	मूल ६ वेदनीयद्विक (साता, असाता) आहारक द्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, मनुष्यायु=८ छठे गुणस्थान के अंतिम समय में इन आठ कर्म प्रकृतियों की उदीरणा रुक जाने से ८१—८=७३ की उदीरणा संभव है। **नोट**—छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिससे साता असाता वेदनीय, मनुष्यायु की उदीरणा हो सके अतः उदय की अपेक्षा ये तीन कर्म प्रकृतियां कम गिनी हैं।	उ० ७३
८	अपूर्वकरण	मूल ६ सम्यक्त्व मोहनीय, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, सेवार्त संहनन इन चार प्रकृतियों की उदीरणा संभव नहीं।	उ० ६९
९	अनिवृत्तिबादर	मूल ६ हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा=६ की उदीरणा संभव नहीं है।	उ० ६३
१०	सूक्ष्मसंपराय	मूल ६ स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया=६ की उदीरणा संभव नहीं है।	उ० ५७
११	उपशांतमोह	मूल ५ संज्वलन लोभ की उदीरणा नहीं होती।	उ० ५६

३ शा० लादूराम जी छाजेड़, व्यावर (राजस्थान)

४ शा० चंपालाल जी डूंगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)

५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)

६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावंडिया)

७ जे० वस्तीमल जी जैन, जंयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू).

८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, व्यावर

९ शा० बालचंद जी रूपचंद जी वाफना,
११८।१२० जवेरी बाजार वम्बई—२ (सादड़ी निवासी)

१० शा० बालाबगस जी चंपालाल जी बोहरा, राणीवाल

११ शा० केवलचंद जी सोहनलाल जी बोहरा राणीवाल

११ शा० अमोलकचंद जी धर्मीचंद जी आच्छा, वड़ाकांचीपुरम्.मद्रास
(सोजत रोड)

१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)

१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादड़ी)

१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)

१६ शा० सिमरतमल जी संखलेचा, मद्रास (बीजाजी का गुड़ा)

१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)

१८ शा० गूदड़मल जी शांतिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास

१९ शा० चंपालाल जी नेमीचंद, जबलपुर (जैतारण)

२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, व्यावर

२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड़-मादलिया)

२२ शा० हीराचंद जी लालचंद जी धोका, नक्साबाजार, मद्रास

२३ शा० नेमीचंद जी धर्मीचंद जी आच्छा, चंगलपेट, मद्रास

२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N.A.D.T.
(वगड़ी-नगर)

२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चांगलपेट, मद्रास

२६ शा० अमोलकचंद जी भंवरलाल जी विनायकिया, नक्शाबाजार, मद्रास

२७ शा० पी० बीजराज नेमीचंद जी धारीवाल, तीरुवेलूर

२ क्षीणमोह

मूल ५ — उ० ५४

ऋषभनाराच व नाराच संहनन, क्षपक श्रेणि आरूढ़ के नहीं होते।

५६—२=५४

अंत समय के आगे निद्रा, प्रचला की उदीरणा संभव नहीं। अतः ५४—२=५२

३ सयोगिकेवली

मूल २ — उ० ३९

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४ अन्तराय ५=१४ प्रकृतियां इस गुणस्थान में न रहने से उदीरणा संभव नहीं, तथा तीर्थंकर नाम कर्म जोड़ देने से ५२—१४+१=३९ प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।

४ अयोगिकेवली

किसी कर्म की उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता-विवरण

ओघ

मूल प्रकृति ८ — उत्तर प्रकृति १४८

ज्ञानावरणीय ५ दर्शनावरणीय ९

वेदनीय २ मोहनीय २८

आयु ४ नाम ९३ (पिंड प्र० ६५, प्रत्येक ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०=९३)

गोत्र २, अंतराय ५

१ मिथ्यात्व

मूल ८ — उ० १४८

जिस जीव ने पहले नरक आयु का बंध कर लिया हो, व फिर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पाकर उसके बल से जिन नाम कर्म बांध लिया हो वह जीव नरक में जाने समय सम्यक्त्व को त्याग कर मिथ्यात्व

५	देशविरत	मूल ८ उदयवत १७ प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।	उ० ८७
६	प्रमत्तविरत	मूल ८ उदयवत् संभव है।	उ० ८१
७	अप्रमत्तविरत	मूल ६ वेदनीयद्विक (साता, असाता) आहारक द्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, मनुष्यायु=८ छठे गुणस्थान के अंतिम समय में इन आठ कर्म प्रकृतियों की उदीरणा रुक जाने से ८१—८=७३ की उदीरणा संभव है। **नोट**—छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिससे साता असाता वेदनीय, मनुष्यायु की उदीरणा हो सके अत: उदय की अपेक्षा ये तीन कर्म प्रकृतियां कम गिनी हैं।	उ० ७३
८	अपूर्वकरण	मूल ६ सम्यक्त्व मोहनीय, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, सेवार्त संहनन इन चार प्रकृतियों की उदीरणा संभव नहीं।	उ० ६९
९	अनिवृत्तिबादर	मूल ६ हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा=६ की उदीरणा संभव नहीं है।	उ० ६३
१०	सूक्ष्मसंपराय	मूल ६ स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया=६ की उदीरणा संभव नहीं है।	उ० ५७
११	उपशांतमोह	मूल ५ संज्वलन लोभ की उदीरणा नहीं होती।	उ० ५६

५३ शा० जेठमल जी चोरड़िया C/o महावीर ड्रग हाऊस नं १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वां क्रोस आरकाट श्रीनिवासचारी रोड, पो० ७६४४, बैंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलाबचंद जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उत्तमचंद जी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A.

५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, O.P.H. रोड, बेंगलोर १

५७ श० सन्तोशचंद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५९ मदनलाल जी रांका (वकील) ब्यावर

६० पारसमल जी रांका C/o वकील भंवरलाल जी रांका ब्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगड़ा नयामोंडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी बोहरा ६९ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधर-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचंद जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, बापूजी रोड, सलूरपेठ (A. P.)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुडुपेट मद्रास २

६५ चैनराज जी सुराणा गांधी बाजार, शिमोगा (कर्नाटक)

६६ पी० वस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा (जाडण) रावर्टसन पेठ (K.G.F.)

६७ सरदारमल जी उमरावमल जी संचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)

६८ चंपालाल जी मीठालालजी संकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)

६९ पुखराज जी ज्ञानचंदजी मुणोत, मद्रास

७० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास

७१ चंपालाल जी उत्तमचंद जी गांधी जवाली, मद्रास

७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड़, सीकन्द्राबाद (रायपुर वाले)

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचंद जी श्रीश्रीमाल ब्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचंद जी संकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचंद जी नम्बरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचंद जी रातड़िया, रावर्टसनपेठ
५ श्री बगतावरमल जी अचलचंद जी खीवसरा ताम्बरम्, मद्रास
६ श्री छोतमल जी सायबचंद जी खींवसरा, खोपाली
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भंडारी, नीमली
८ श्री माणकचंद जी गुलेछा, ब्यावर
९ श्री पुखराज जी बोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलां
१० श्री धर्मीचंद जी बोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलां
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चण्डावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत मारवाड़ जंक्शन
१४ श्री रतनचंद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादड़ी (मारवाड़)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, बिलाड़ा
१६ श्री चंपालाल जी नेमीचंद जी कटारिया, बिलाड़ा
१७ श्री गुलाबचंद जी गंभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचंद जी रांका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री संतोषचंद जी जबरीलाल जी ऊमट,
[illegible] बाजार रोड, [illegible]
२२ श्री [illegible] जी गादिया, [illegible]
२३ श्री [illegible] जी [illegible] जी [illegible]
२४ श्री [illegible] जी [illegible] जी [illegible], [illegible]

९२ शा० कुशालचन्दजी रीखबचन्दजी सुराण। ७२९ [illegible]ार वोलारम (आ० प्र०)

९३ शा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खींवसरा मु० [illegible]पारी वाया राणावास

९४ शा० पारसमलजी डंक (सारन) C/o सायवचन्दजी पारसमल जैन म० न० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुड़ा सिकन्द्रावाद (A. P.)

९५ शा० सोभाचन्दी प्रकाशचन्द जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचन्द एण्ड कं० मण्डीपेट—दावनगिरी —कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभारानीजी रांका C/o भवरलालजी रांका मु० पो० व्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी रांका C/o वकील भवरलालजी रांका मु० पो० व्यावर

९८ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील भैरों वाजार वेलनगंज आगरा—४

९९ शा० सोहनलालजी-मेडतीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

१०० भंवरलालजी श्यामलालजी वोरा व्यावर

१०१ चम्पालालजी कांटेड़ पाली (मारवाड़)

१०२ सम्पतराजजी जयचन्दजी सुराणा पाली मारवाड़ (सोजत)

१०३ हीराललजी खावीया पाली मारवाड़

१०४ B. चैनराजजी तातेड़ अलसुर वेंगलोर (वीलाड़ा)

१०५ रतनलालजी घीसुलालजी समदड़ीया, खड़की पूना

१०६ भी० नितन्द्र कुमारजी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

●●

५३ शा० जेठमल जी चोरड़िया C/o महावीर ड्रग हाऊस नं १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वां क्रोस आरकाट श्रीनिवासचारी रोड, पो० ७६४४, बैंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलाबचंद जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उत्तमचंद जी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A.

५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, O.P.H. रोड, बेंगलोर १

५७ श ० सन्तोशचंद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५९ मदनलाल जी रांका (वकील) ब्यावर

६० पारसमल जी रांका C/o वकील भंवरलाल जी रांका ब्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगड़ा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६९ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधर-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचंद जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, वापूजी रोड, सलूरपेठ (A. P.)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुडुपेट मद्रास २

६५ चैनराज जी सुराणा गांधी वाजार, शिमोगा (कर्नाटक)

६६ पी० बस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा (जाडण) रावर्टसन पेठ (K.G.F.)

६७ सरदारमल जी उमरावमल जी संचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)

६८ चंपालाल जी मीठालालजी संकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)

६९ पुखराज जी ज्ञानचंदजी मुणोत, मद्रास

७० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास

७१ चंपालाल जी उत्तमचंद जी गांधी जवाली, मद्रास

७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड़, सीकन्द्रावाद (रायपुर वाले)

हमारा महत्वपूर्ण साहित्य

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचंद जी श्रीश्रीमाल व्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचंद जी संकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचंद जी नम्बरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचंद जी रातड़िया, रावर्टसनपेठ
५ श्री वगतावरमल जी अचलचंद जी खींवसरा ताम्वरम्, मद्रास
६ श्री छोतमल जी सायवचंद जी खींवसरा, वाँपारी
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भंडारी, नीमली
८ श्री माणकचंद जी गुलेछा, न्यावर
९ श्री पुखराज जी वोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचंद जी वोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चंडावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, विलाड़ा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत मारवाड़ जंकशन
१४ श्री रतनचंद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादड़ी (मारवाड़)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, विलाड़ा
१६ श्री चंपालाल जी नेमीचंद जी कटारिया, विलाड़ा
१७ श्री गुलावचंद जी गंभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचंद जी रांका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री संतोकचंद जी जवरीलाल जी जामड़,
१४६ वाजार रोड, मदरानगतम
२३ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्
२३ श्री धरमीचंद जी ज्ञानचंद जी मूथा, वगड़ीनगर
२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, विलाड़ा

२५ श्री दुलराज इन्दरचंद जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानलाल जी मांगीलाल जी चौरड़िया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१
२७ श्री सायरचंद जी चौरड़िया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जवरचंद जी चौरड़िया, मेड़तासिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचंद जी गादिया, १६२ कोयम्बतूर, मद्रास
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली
३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक
३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर
३३ श्री चंपालाल जी भंवरलाल जी सुराना, कालाऊना
३४ श्री मांगीलाल जी शंकरलाल जी भंसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२
३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४
३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम
३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, ब्यावर
३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुड़ा
३९ शा० संपतराज जी चौरड़िया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
४१ शा० भीकमचन्द जी चौरड़िया, मद्रास
४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे
४३ शा० जव्वरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, व्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादिया, लांबिया
४५ श्री सेंसमल जी धारीवाल, वगड़ीनगर (राज०)
४६ जे० नौरतमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१
४७ उदयचन्द जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचन्द जी मूथा, मेवाड़ी बाजार व्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)
श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-बाजार रोड, मद्रास

५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, बम्बई-३
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, बेंगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजेड़, मद्रास
५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११
५४ श्री चान्दमल जी लालचन्द जी ललवाणी, मद्रास-१४
५५ श्री लालचन्द जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयोलूर
५६ श्री सुगनराज जी गौतमचन्द जी जैन, तमिलनाडु
५७ श्री के० मांगीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६
५८ श्री एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२
५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, बैंगलूर-१
६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी सांखला, तीरुवल्लुर
६१ श्री पुकराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावंडिया
६२ श्री भंवरलाल जी प्रकाशचन्द जी वग्गाणी, मद्रास
६३ श्री रूपचन्द जी बाफणा चंडावल
६४ श्री पुखराज जी रिखवचन्द जी रांका, मद्रास
६५ श्री मानमल जी प्रकाशचन्द जी चौरडिया, पीचियाक
६६ श्री भीखमचन्द जी शोभागचन्द जी लूणिया, पीचियाक
६७ श्री जैवंतराज जी सुगमचन्द जी बाफणा, बेंगलोर (कुशालपुर।)
६८ श्री घेवरचन्द जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली
६९ शा० नेमीचन्द जी कोठारी नं० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१
७० शा० मांगीलाल जी सोहनलाल जी रातडीआ C/o नरेन्द्र एथर्टरी कस स्टोर, चीकपेट, बेंगलोर-४
७१ शा० जवरीलाल जी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६
७२ शा० लुमचन्द जी मंगलचन्द जी तालेड़ा अशोका रोड, मैसूर
७३ शा० हंसराजजी जसवन्तराजजी सुराणा मु० पो० सोजतसिटी
७४ शा० हरकचन्दजी नेमीचन्दजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)
७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलों का वास. मु० पो० जालोर

७६ शा० बी० सजनराजजी पीपाड़ा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)
७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे नं० ४५८६७७/१४१भवानी शंकर रोड वीसावा विल्डिग, दादर वोम्बे नं० २८
७८ शा० मिश्रीमलजी वीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)
७९ शा० किसोरचन्द जी चांदमलजी सोलंकी C/o K. C. Jain 14 M. C. Lain. II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53
८० शा० निरमलकुमारजी मांगीलाल जी खींवसरा ७२ धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, बम्बई ३
८१ श्रीमती सोरमबाई धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास
८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरताबाद हैदराबाद ५००००४
८३ शा० सुगालचन्द जी उतमचन्दजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२
८४ शा० जवरीलालजी लुंकड़ (कोटडी) C/o घमंडीराम सोहनराज अन्ड कं० ४८६/२ रेवड़ी बाजार अहमदावाद-२
८५ शा० गौतमचन्द जी नाहटा (पीपलीया) नं० ८, वाटु पलीयार कोयल स्ट्रीट साहुकार पेट, मद्रास १
८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलंका बेंगलोर (नार्थ)
८७ शा० मदनलालजी छाजेड़ मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्वतूर (मद्रास)
८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्द्रावाद (A. P.)
८९ शा० एम० पुकराजजी अण्ड कम्पनी क्रास वाजार दूकान नं० ६, कुनूर (नीलगिरी)
९० शा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलंकी मु० पोस्ट—रांणा वाया-पाली (राजस्थान)
९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स नं० ९५ नेताजी सुभापचन्द रोड, मद्रास १

९२ मोणकचन्द जी ललवानी (मेड़तासिटी) मद्रास
९३ मांगीलालजी टीपरावत (ठाकरवास) मद्रास
९४ सायरचन्द जी गांधी पाली (मारवाड़)
९५ मांगीलालजी लुणावत, उदयपुर (राज०)
९६ सरदारचन्दजी अजितचन्दजी भंडारी, त्रिपोलीया वाजार (जोधपुर)
९७ सुगालचन्दजी अनराजजी मूथा मद्रास
९८ लालचन्दजी संपतराजजी कोठारी, वेंगलोर
९९ माणकचन्दजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, वेंगलोर
१०० वक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जैतारण) रावर्टसन पेठ K.G.F.

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचन्द जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भंडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी वोहरा, व्यावर
४ श्री लालचन्द जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गांधी, सिरियारी
६ श्री जवरचन्द जी वम्व, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, व्यावर
८ श्री जुगराज जी भंवरलाल जी रांका, व्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धौका, सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी वोहरा, व्यावर
११ श्री चनणमलजी थानमल जी खींवसरा, मु० वोपारा
१२ श्री पन्नालाल जी भंवरलाल जी ललवाणी, विलाड़ा
१३ श्री अनराज जी लखमीचन्द जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचन्द जी जांगड़, विलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी धमीचन्द जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचन्द जी शान्तिलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचन्द जी गुन्देचा, सोजतरोड

१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी साकरिया, सांडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखबाजी साकरिया, सांडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचन्द जी वरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मांगीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजत रोड
२३ श्री मोहनलाल जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भंसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी बोकड़िया, पाली
२६ श्री चान्दमल ज़ी हीरालाल जी बोहरा, ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचन्द जी भंवरलाल जी डक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, सांडेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, सांडेराव
३१ श्री नेमीचन्द जी शांतिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३२ श्री विजयराज जी आणंदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूंकड़, बिग-बाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उड़ीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी कोठारी, बाजार स्ट्रीट, मन्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी काँकरिया, मद्रास (मेड़तासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गाँधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराज जी बादलचन्द जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसींग जी ढाबरिया, गुलाबपुरा
४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, बगड़ीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचंद जी कांठेड ब्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचन्द जी खीवसरा, बैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरड़िया, मद्रास
शा० अमरचन्द जी नेमीचन्द जी पासमल जी नागौरी,, मद्रास

४८ शा० वनेचन्द जी हीराचंद जी जैन, सोजतरोड, (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मांगीलाल जी गूंदेचा, सोजतरोड (पाली)
५० श्री जयन्तीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादड़ी
५१ श्री गजराज जी भंडारी एडवोकेट, वाली
५२ श्री मांगीलाल जी रैड, जोधपुर
५३ श्री ताराचंद जी वम्ब, व्यावर
५४ श्री फतेहचन्द जी कावड़िया, व्यावर
५५ श्री गुलावचन्द जी चोरड़िया, विजयनगर
५६ श्री सिंधराज जी नाहर, व्यावर
५६ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहवाज
५८ श्री मीठालाल जी पवनकंवर जी कटारिया, सहवाज
५९ श्री मदनलाल जी सुरेन्द्रराज जी ललवाणी, विलाड़ा
६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचंद जी मकाणा, व्यावर
६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी वोहरा, मद्रास
६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)
६३ श्री वकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादड़ी (मारवाड़)
६४ श्री मैं० चंदनमल पगारिया, औरंगावाद
६५ श्री जवंतराज जी सज्जनराज जी दुगड़, कुरड़ाया
६६ श्री वी० भंवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा]
६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकलां
६८ श्री आर० प्रसन्नचंद चोरड़िया, मद्रास
६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्रावाद
७० श्री सुकनचंद जी चांदमल जी कटारिया, इलकल
७१ श्री पारसमल जी कांतीलाल जी वोरा, इलकल
७२ श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी जैन (पाली) बैंगलूर
७३ शा० जी० एम० मङ्गलचन्दजी जैन (सोजतसिटी) C/o मङ्गल टेक्स-टाईलस २६/७८ फर्स्ट फ्लोर मूलचन्द मारकेट गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १
७४ श्रीमती रतनकवर धर्मपत्नी शांतीलालजी कटारिया C/o पृथ्वीराजजी प्रकाशचन्दजी फतेपुरियों की पोल मु०. पो० पाली (राज०)

७५ शा० मगराज जी रूपचन्द खींवसरा C/o रूपचन्द-विमलकुमार पो
पेरमपालम; जिला चंगलपेट

७६ सा० माणकचंदजी भंवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचंद मोहनलाल जै
१७ विन्नी मिल रोड बेंगलौर ५३

७७ शा० ताराचंद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई वाजार जोधपुर (महामन्दिर

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचन्दजी पोकरणा १९ गोडाउन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचन्दजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचन्द जैन—४०३/७ वाजार रोड रेडीलस—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० वोरूंदा वाया पीपा
सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहर C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६
चीकपेट, बेंगलौर ५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचन्द नथम
जैन No० ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—बेंगलौर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी समदरिया सामराज पेट नं
९८/७ क्रोस रोड, बेंगलौर १८

८५ शा० मंगलचंदजी नेमीचंदजी वोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स
H० ५६ खलास पालीयस बेंगलौर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरिया जी० १२९ मीलरोड
बेंगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन,
सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचन्दजी सींगीं (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—
हैदरगुड़ा ३/६/२९४/२/३ हैदराबाद (A. P.)

९० शा० जे० वीजेराजजी कोठारी W50 कीचयालेन काटन पेट
बेंगलोर—५३

९१ शा० वी० पारसमलजी सोलंकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट
कोयम्वतूर